

सालिम अली

(1896 - 1987)

आपके जीवन का सन्देश सभी दिशाओं में फैल रहा है और हमें विश्वास है कि बया आपका नाम अपने घोंसलों में बुनेंगी, और अबाबील पक्षी आपके सम्मान में आकाश में अण्डाकार गोते लगाएँगी।

— पॉल गैटी संरक्षण पुरस्कार समारोह से उद्धृत

सालिम अली 20वीं सदी में निर्विवाद रूप से भारत के सबसे महान पक्षी विज्ञानी थे। लोग प्यार से उन्हें 'भारत का बर्डमैन' कहते थे। उन्होंने लगभग 80 वर्षों तक भारतीय उपमहाद्वीप के पक्षियों का अवलोकन किया और उनकी जानकारी को किताबों में सँजोया।

सालिम अली का जन्म एक धनी व्यापारी परिवार में हुआ था। बचपन में वे काफी कमजोर थे और इस कारणवश उन्हें अक्सर स्कूल से छुट्टी लेनी पड़ती थी। पर बाद में नियमित कसरत से उनकी ताकत बढ़ी और आगे चलकर वे कठिन और दुर्गम यात्राएँ आसानी से



कर सके। 10 साल की उम्र में ही उनके सिर पर से माता-पिता का साया उठ गया। उसके बाद मामा अमरुद्दीन तैयबजी और मामी हमीदा ने बहुत प्यार से उनका लालन-पालन किया। पक्षी अवलोकनकर्ता और शोधकर्ता के रूप में अपने लम्बे जीवनकाल में सालिम अली कभी सरकारी नौकरी या अनुदान पर निर्भर नहीं रहे। उनका प्रगतिशील परिवार सदैव उनके साथ खड़ा रहा और जीवन भर उनके काम में सहयोग करता रहा। उन्होंने बम्बई के सेंट जेवियर कॉलेज में प्राणी विज्ञान पढ़ा, परन्तु उन्हें बीच में ही अपनी पढ़ाई छोड़कर परिवार के टंगस्टन के व्यापार की देख-रेख के लिए बर्मा (म्यांमार) जाना पड़ा। परन्तु व्यापार की दुनिया उन्हें रास नहीं आई और वे जल्द ही वापस जीव विज्ञान की ओर उन्मुख हुए। 1918 में एक दूर की रिश्तेदार तेहमीना के साथ उनका विवाह हुआ।

भारतीय प्राणीवैज्ञानिक सर्वेक्षण (Zoological Survey of India) में जब उन्हें नौकरी नहीं मिली तो उन्होंने कुछ समय के लिए बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में गाइड का काम किया। 1928 में वे जर्मनी गए और वहाँ के प्राणीविज्ञान संग्रहालय बर्लिन (Zoological Museum of Berlin) के प्रोफेसर इर्विन स्ट्रेसमैन से प्रशिक्षण लिया। 1930 में अच्छी नौकरी न मिलने की वजह से वे बम्बई के निकट एक तटवर्ती गाँव किहिम में बस

गए। वहाँ उन्होंने बया पक्षियों का सूक्ष्म अवलोकन किया। बया पक्षियों के प्रजनन जीव विज्ञान के अध्ययन ने उन्हें एक विश्वस्तरीय पक्षी निरीक्षक के रूप में स्थापित कर दिया।

उन्होंने पाया कि नर बया ही घोंसला बनाता है। फिर अचानक एक दिन मादा बया आकर आधे बने घोंसले और नर बया की मालकिन बन जाती है! बया के बच्चे

सख्त अनाज हज़म नहीं कर सकते,



इसलिए वे सिर्फ छोटे व मुलायम कीड़े ही खाते हैं। इस प्रकार बया पक्षी हानिकारक कीड़े-मकोड़ों की आबादी पर काबू रखने में अहम भूमिका निभाते हैं। सालिम अली ने आर्थिक पक्षी विज्ञान का विषय प्रत्येक कृषि विश्वविद्यालय में पढ़ाए जाने की सिफारिश की।

कभी-कभार सालिम अली ने पक्षियों का शिकार भी किया – कभी भोजन के लिए – परन्तु अधिकांशतः वैज्ञानिक निरीक्षण के लिए। परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने चिड़ियों का शिकार पूरी तरह बन्द कर दिया। वे केवल दूरबीन की सहायता से पक्षी निरीक्षण करने लगे। कभी-कभी वे पक्षी की पहचान निश्चित करने के लिए उसे पकड़कर पैर में एक निशानी-छल्ला (identity ring) फँसाकर छोड़ देते थे। पैर में लगे छल्ले से पक्षी व्यवहार का अध्ययन करने में सहायता मिलती।

उनके अध्ययन से फूलचुकी (flower peckers) और शक्करखोरा (Sunbirds) द्वारा आकाश बेल के परागण और बीज प्रसार के बारे में प्रामाणिक जानकारी मिली। उन्होंने कच्छ के रण में राजहंस का भी गहन अध्ययन किया और हैदराबाद, त्रावणकोर, कोचीन, अफगानिस्तान, कैलाश मानसरोवर, कच्छ, मैसूर, गोवा, सिक्किम, भूटान और अरुणाचल प्रदेश के पक्षियों का क्षेत्रीय सर्वेक्षण भी किया। उन्होंने बताया कि जल-पक्षियों की कई प्रजातियाँ पलायन कर साइबेरिया तक जाती हैं। अपने पूरे अनुसन्धान में उन्होंने सूक्ष्म टिप्पणियाँ लीं और ज्ञान के इस अपार भण्डार को अनेक सचित्र पुस्तकों में लिपिबद्ध किया। 1941 में उन्होंने बुक ऑफ इण्डियन बर्ड्स (भारतीय पक्षी) लिखकर शुरुआत की; उसके बाद उन्होंने द बर्ड्स ऑफ कच्छ (कच्छ के पक्षी),





इण्डियन हिल बर्ड्स (भारत के पहाड़ी पक्षी), बर्ड्स ऑफ केरला (केरल के पक्षी) और बर्ड्स ऑफ सिक्किम (सिक्किम के पक्षी) किताबें लिखी। बाद में उन्होंने 10 खण्डों की सुप्रसिद्ध पुस्तक हैण्डबुक ऑफ द बर्ड्स ऑफ इण्डिया एंड पाकिस्तान (भारत तथा पाकिस्तान के पक्षी) लिखी। पक्षियों पर उनकी अन्तिम पुस्तक फील्ड गाइड टू द बर्ड्स ऑफ ईस्टर्न हिमालयाञ्च (पूर्वी हिमालय के पक्षियों की फील्ड गाइड) 1977 में छपी। 1985 में सालिम अली ने अपनी दिलकश जीवनी, द फॉल ऑफ ए स्पैरो (*The Fall of a Sparrow*) लिखी। पक्षी जीवन के गहरे ज्ञान और पर्यावरण के नाजुक सन्तुलन की समझ के कारण वे पर्यावरण संरक्षण की ओर उन्मुख हुए। सालिम अली की सिफारिशों की वजह से ही केरल में साइलेंट वैली (Silent Valley) और राजस्थान में भरतपुर पक्षी अभयारण्य की स्थापना हुई। विज्ञान और प्राकृतिक संरक्षण की ओर उनका सम्पूर्ण समर्पण अद्वितीय था। 1883 में स्थापित संस्था बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी (Bombay Natural History Society-BNHS) का अस्तित्व बचाने के लिए उन्होंने पण्डित नेहरू को पत्र लिखकर आर्थिक अनुदान की अपील की। जैविक विविधता के लिहाज से भारत की गिनती विश्व के प्रमुख 12 देशों में होती है। उसके बावजूद हमारे पास अपनी जैविक सम्पदा की विस्तृत व प्रामाणिक जानकारी नहीं है। पुराने दस्तावेजों के अनुसार मुगल बादशाहों ने प्राकृतिक सम्पदा में गहरी रुचि ली थी। उदाहरण के लिए, बादशाह



जहाँगीर ने अपनी डायरी में सारस पक्षी के प्रजनन व्यवहार के साथ-साथ अन्य प्राणियों का सूक्ष्म वर्णन किया है। उन्होंने एक कुशल चित्रकार मन्सूर को पक्षियों के रंगीन चित्र बनाने का काम भी सौंपा। किन्तु उसके बाद लम्बे समय तक जैविक विविधता को दर्ज करने का काम पूर्णतः उपेक्षित रहा।

अँग्रेजों ने अपने औपनिवेशिक हितों के लिए भारत में जैविक सम्पदा की ठोस जानकारी को संकलित करना शुरू किया। सर जोसेफ हुकर, ह्यू व्हिस्लर और विण्टर-ब्लिथ जैसे दिग्गजों ने भारतीय जैविक सम्पदा को दर्ज करने में पथप्रदर्शक काम किया। सालिम अली शायद पहले ऐसे भारतीय थे जिनका काम सावधानी से किए गए सूक्ष्म अवलोकनों पर आधारित था। इसीलिए भारतीय विज्ञान के इतिहास में उनका काम अनूठा है।

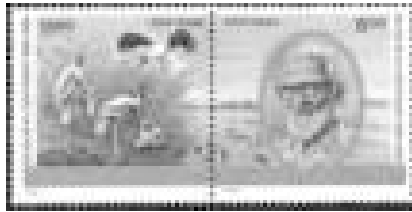
1939 में एक छोटी शल्यक्रिया के बाद सालिम अली की पत्नी का देहान्त हो गया। उसके बाद 50 सालों तक उनकी बहन के परिवार ने उनकी सभी जरूरतों का ध्यान रखा। सालिम अली पक्षियों के अवलोकन में अपना पूरा जीवन इसलिए समर्पित कर सके क्योंकि उनके परिवार ने वह सब स्वीकार किया जिसे अन्य भारतीय परिवार पागलपन करार देते। जे.बी.एस. हाल्डेन ने सालिम अली के उपयोगी वैज्ञानिक अनुसन्धान की पुरजोर प्रशंसा की। सालिम अली इस अद्वितीय शोध को महज एक दूरबीन की सहायता से कर पाए।

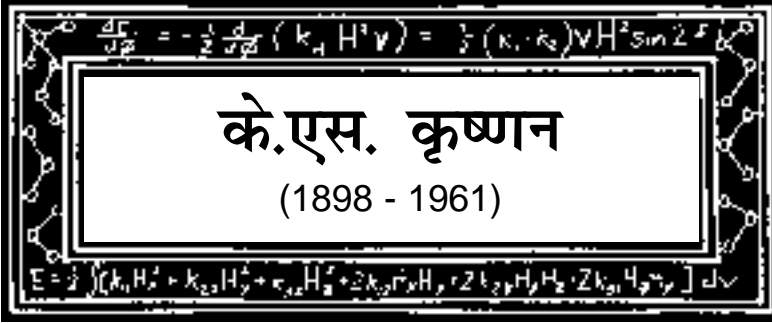
एक बार सालिम अली ने घोड़े की पूँछ के बालों की सहायता से आईने के सामने एक सलेटी खंजन को पकड़ा। चिड़िया आईने में अपने प्रतिबिम्ब पर वार करती रही और बालों के जाल में फँस गई। सालिम अली ने पक्षी के पैर में एक छल्ला डालकर उसे छोड़ दिया। साइबेरिया में प्रजनन करने वाली यह चिड़िया कुछ महीने बम्बई में बिताती है। इस घटना के कई सालों बाद तक वही चिड़िया हर अप्रैल सालिम अली के बाग में दिखती



और फिर सितम्बर में साइबेरिया की ओर पलायन करती। कोई ताज्जुब नहीं कि सालिम अली हमेशा के लिए पक्षियों से सम्मोहित हो गए!

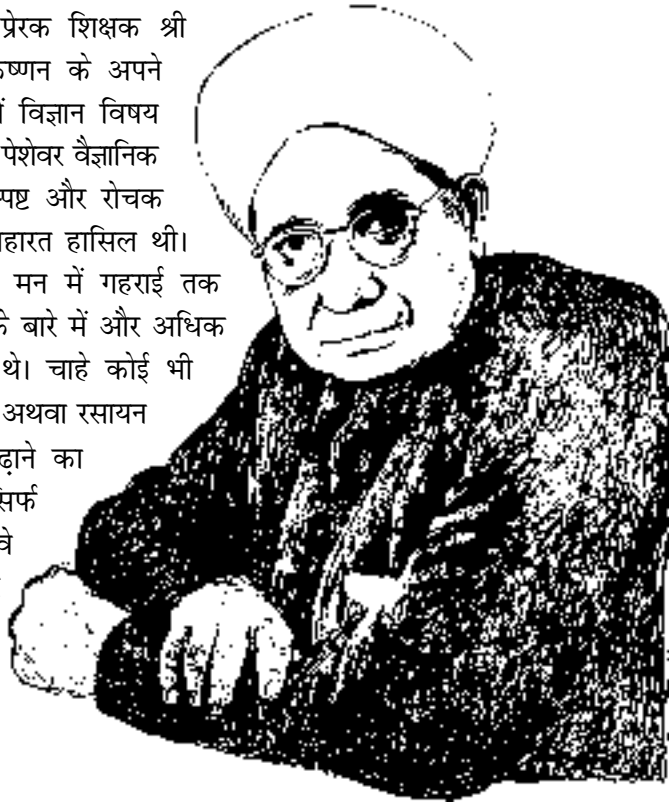
सालिम अली अपने जीवनकाल में ही भारत ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया के पक्षी तथा प्रकृति-प्रेमियों के बीच एक किंवदन्ती बन गए थे। उन्हें बहुत सारे पुरस्कार मिले – ब्रिटिश ऑर्निथोलॉजिस्ट यूनियन का यूनियन मेडल (1967), वर्ल्ड कंज़रवेशन यूनियन का फिलिप्स मेडल (1969), पद्म विभूषण (1976) और वर्ल्ड वाइल्डलाइफ फण्ड का पॉल गैटी वाइल्डलाइफ कंज़रवेशन प्राइज़ (1976)। उन्हें डॉक्टरेट की तीन मानद उपाधियों से सुशोभित किया गया और 1985 में राज्यसभा की सदस्यता के लिए मनोनीत किया गया। 1987 में सालिम अली का कैंसर से देहान्त हुआ। 1990 में कोयम्बतूर में सालिम अली पक्षी विज्ञान एवं प्राकृतिक इतिहास केन्द्र की स्थापना हुई।





करियामणिक्कम श्रीनिवास कृष्णन का जन्म 4 दिसम्बर 1898 को तमिलनाडु में तिरुनलवेल्ली जिले के वाटरप गाँव में हुआ था। उनके पिता विद्वान थे और तमिल व संस्कृत भाषाओं में पारंगत थे। कृष्णन की प्रारम्भिक शिक्षा उनके गाँव एवं पास के शहर श्रीविलिपुतूर में हुई।

स्कूल में उनकी भेंट एक प्रेरक शिक्षक श्री सुब्रह्मण्या अय्यर से हुई। कृष्णन के अपने शब्दों में, “मुझे हाईस्कूल में विज्ञान विषय से प्रेम हुआ। मेरे शिक्षक कोई पेशेवर वैज्ञानिक नहीं थे परन्तु विज्ञान को स्पष्ट और रोचक तरीके से समझाने में उन्हें महारत हासिल थी। उनके पाठ न केवल हमारे मन में गहराई तक उतर जाते थे, वरन् विज्ञान के बारे में और अधिक जानने की भूख भी जगाते थे। चाहे कोई भी विषय हो – भौतिकी, भूगोल अथवा रसायन विज्ञान – श्री अय्यर के पढ़ाने का अन्दाज़ विलक्षण था। वे सिर्फ किताब से नहीं पढ़ाते थे। वे सरल प्रयोग दिखाते थे और हमें भी प्रयोग करने के लिए प्रेरित करते थे।”



शाला में एक बार कृष्णन से आर्कमिडीज़ के सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिखने के लिए कहा गया। इस कार्य में कृष्णन ने घनत्व मापने का खुद बनाया एक उपकरण भी जोड़ दिया। बाद में उन्हें यह जानकर अचरज हुआ कि वह उपकरण पहले ही ईजाद हो चुका था और वह निकोलस हार्ड्रोमीटर के नाम से जाना जाता था। कृष्णन का शायद यह पहला स्वतंत्र शोध था।

कृष्णन ने 1914-1916 के बीच मदुरै स्थित अमरीकन कॉलेज में पढ़ाई की। बाद में उन्होंने मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में दाखिला लिया, जहाँ 1918 में एक योग्य छात्र के रूप में उन्होंने भौतिक विज्ञान का एबरडीन पुरस्कार (Aberdeen Prize for Physical Science) जीता।

अगले दो सालों तक कृष्णन ने मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज के रसायन विज्ञान विभाग में सहायक शिक्षक का काम किया। दोपहर भोजन की छुट्टी में वे अनौपचारिक चर्चा आयोजित करते जिनमें छात्र भौतिकी, रसायन विज्ञान और गणित के किसी भी प्रश्न पर चर्चा करने के लिए स्वतंत्र होते थे। यह गोष्ठियाँ इतनी अधिक लोकप्रिय हुईं कि आसपास के महाविद्यालयों के छात्र भी इनमें भाग लेने लगे।

1920 में कोडैकनाल स्थित सौर-भौतिकी वेधशाला (Solar Physics Observatory) में काम करने के लिए कृष्णन के नाम की सिफारिश की गई और वे जाने को तैयार भी थे। परन्तु किसी कारण बात बनी नहीं। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ और इससे भौतिक विज्ञान को निश्चित ही बहुत अधिक लाभ हुआ।

कृष्णन का दिल वैज्ञानिक शोध में था। 1920 में उन्होंने यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस, कलकत्ता में एम.एससी. करने के लिए दाखिला लिया, जहाँ सी.वी. रामन पढ़ाते थे। भौतिक विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान हासिल करने के बाद कृष्णन ने रामन के साथ शोधकर्ता के रूप में काम करना शुरू किया। वे अक्सर सुबह छह बजे टहलने जाते और ठण्डे पानी से नहाने के तुरन्त बाद अपने शोधकार्य में जुट जाते। उन्होंने प्रकाश के आप्ठिक-विकिरण एवं तरल पदार्थों में एक्स-रे के प्रभाव पर कार्य किया। उन्होंने गैसीय अणुओं और स्फटिकों की चुम्बकीय विषमदेशिकता (anisotropy) पर भी

अनुसन्धान किया। मगर उनकी रुचि केवल शोध तक ही सीमित नहीं थी। साहित्य, धर्म और दर्शन की पुस्तकें भी वे शौक से पढ़ते थे।

अक्टूबर 1928 में जर्मनी के प्रोफेसर अर्नाल्ड सोमरफेल्ड ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में क्वांटम यांत्रिकी पर व्याख्यान दिए। कृष्णन ने उन व्याख्यानों का ध्यानपूर्वक अध्ययन कर उन्हें एक पुस्तक के रूप में संकलित किया। सोमरफेल्ड कृष्णन की मौलिकता एवं विद्वता से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने पुस्तक को संयुक्त नामों से छापने का प्रस्ताव रखा। पर जैसी अपेक्षा थी, कृष्णन ने विनम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया।

कृष्णन का रामन के साथ सहभाग बहुत महत्वपूर्ण साबित हुआ। रामन के आग्रह पर कृष्णन ने विभिन्न तरल पदार्थों पर प्रकाश के विकिरण के प्रभाव का प्रायोगिक अध्ययन किया और उसकी सैद्धान्तिक व्याख्या की।



कृष्णन, सोमरफेल्ड और रामन

उन्होंने 'रामन प्रभाव' की खोज में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसके लिए 1930 में रामन को नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। स्वयं रामन ने कृष्णन के योगदान का उल्लेख किया है। लेकिन कृष्णन ने बाद में इस विषय पर आगे शोध नहीं किया। उन्होंने चुम्बकत्व,

ऊष्मा चालकता और तापायनिकी (thermionics) के क्षेत्र चुने। तापायनिकी इलेक्ट्रॉनिकी की वह शाखा है जिसमें पदार्थों को गर्म करने पर उनमें से निकलने वाले इलेक्ट्रॉनों का अध्ययन किया जाता है।

दिसम्बर 1928 में कृष्णन ने ढाका विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान विभाग में रीडर के पद पर काम प्रारम्भ किया। उस समय प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानी सत्येन्द्र नाथ बोस उस विभाग के प्रमुख थे। वहाँ का प्रेरणादायक माहौल कृष्णन को बेहद पसन्द आया और उन्होंने पूरे जोश के साथ काम शुरू किया। वे सस्ते और सरल किस्म के तरीकों से प्रयोग करते थे। उनके काम

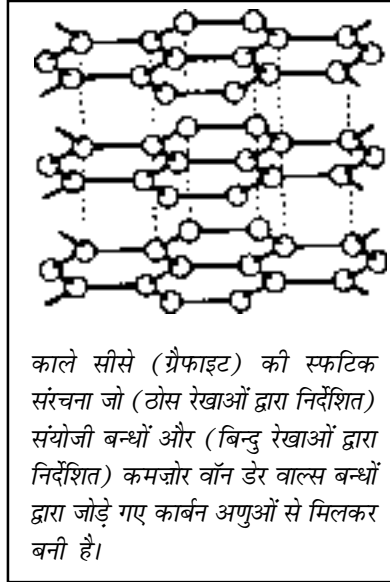
को एक विदेशी मित्र ने मज़ाक में 'कबाड़ से जुगाड़' करना बताया। उन्होंने विषम-चुम्बकीय तथा सम-चुम्बकीय स्फटिकों के चुम्बकीय गुणधर्मों का गहन अध्ययन किया। उनके शोधकार्य के लिए मद्रास विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.एससी. की उपाधि प्रदान की।

1933 में कृष्णन कलकत्ता लौटे जो उस समय देश में विज्ञान का प्रमुख केन्द्र था। वहाँ उन्होंने भारतीय विज्ञान विकास संघ (Indian Association for the Cultivation of Science)

में फिज़िक्स की महेन्द्रलाल सरकार चेयर का पद सम्भाला। प्रकाश के विकिरण और चुम्बकत्व के माप पर कृष्णन के काम को इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि 1940 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो चुना गया। उस समय उनकी उम्र मात्र 42 वर्ष थी।

दिसम्बर 1941 में जापान में युद्ध छिड़ने के कारण कलकत्ता में जीवन बहुत अस्त-व्यस्त हो गया। इस बात की सम्भावना थी कि शिक्षा और शोध संस्थाओं को बन्द कर दिया जाए। इसलिए जब कृष्णन

को इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राध्यापक के पद का न्यौता मिला तो उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया। इलाहाबाद में बहुत समय प्रशासनिक कार्यों में खर्च होने से उनके प्रायोगिक शोधकार्य पर असर पड़ा। परन्तु भौतिकी के सैद्धान्तिक पक्षों में पारंगत होने के कारण उन्होंने अपना ध्यान धातुओं और मिश्रधातुओं के प्रतिरोध (resistivity) का एक सूत्र विकसित करने पर केन्द्रित किया। 1946 में कृष्णन को नाईटहुड (Knighthood) से सम्मानित किया गया। देश की आज़ादी से कुछ समय पहले कृष्णन को राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला (National Physical Laboratory) के निदेशक का पद सम्भालने के लिए नई दिल्ली आमंत्रित किया गया।



1940 के दशक के उत्तरकाल और 1950 के दशक के शुरुआती वर्षों में कृष्णन ने काफी समय वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, परमाणु ऊर्जा आयोग और अन्य महत्वपूर्ण सरकारी संस्थाओं के साथ बिताया। 1954 में उन्हें पद्म भूषण और 1957 में शान्ति स्वरूप भटनागर पुरस्कार से अलंकृत किया गया।

व्यक्तिगत जीवन में कृष्णन कई विषयों में पारंगत थे। साथ ही न्याय और नैतिकता के मानवीय मूल्यों में उनका गहरा विश्वास था। उन्हें संस्कृत, तमिल साहित्य और कर्नाटक संगीत में रुचि थी। एक बार पण्डित नेहरू ने टिप्पणी करते हुए कहा था कि हरेक मुलाकात पर कृष्णन से उन्हें कोई नई कहानी सुनने को मिलती है! कृष्णन टेनिस खेलते थे और उन्हें क्रिकेट मैच देखने का भी शौक था। विज्ञान की गहरी जानकारी होने के कारण वे विज्ञान की विनाशकारी शक्ति से अच्छी तरह अवगत थे और इसलिए उन्होंने शान्ति आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया।

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के निर्माण के समय एक ठेकेदार ने मुख्य द्वार के पास दो समस्यामूलक पेड़ों को काटने का निर्णय लिया। कृष्णन ने जब यह देखा तो वे बहुत दुखी हुए और उन्होंने वास्तुकार से पूछा, “आप ये पेड़ क्यों काट रहे हैं?” जवाब में वास्तुकार ने कहा, “सर, इन पेड़ों के कारण लैण्डस्केप का सौष्ठव बिगड़ रहा है।” कृष्णन ने कहा, “तुम अभी भी सौष्ठव बरकरार रख सकते हो। इन पेड़ों को काटकर नहीं, बल्कि वहाँ एक और पेड़ लगाकर।” यह छोटी-सी घटना कृष्णन की गहरी नैतिक संवेदनाओं और सौन्दर्य बोध की द्योतक है। 13 जून 1961 को कृष्णन का देहान्त हुआ। वे अपने पीछे पत्नी, दो बेटों, चार बेटियों और समस्त भारत को शोकाकुल छोड़ गए।





वी.एन. शिरोडकर पूरे विश्व में शिरोडकर टाँके (Shirodkar Stitch) के आविष्कारक के रूप में मशहूर हैं। एक शल्यचिकित्सक की हैसियत से स्त्रीरोगों के उपचार में उनका योगदान बहुत महत्वपूर्ण है।

विठ्ठल नागेश शिरोडकर का जन्म 1899 में गोवा के शिरोदा नाम के गाँव में हुआ। उनका पारिवारिक नाम शिरोडकर उस गाँव के नाम पर ही पड़ा। प्रारम्भिक शिक्षा हुबली में होने के बाद ग्रांट मेडिकल कॉलेज, बम्बई से उन्होंने चिकित्सा की पढ़ाई पूरी की। 1923 में उन्होंने एम.बी.बी.एस. की

अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने प्रसूति एवं स्त्रीरोग विज्ञान में विशेषज्ञता हेतु 1927 में बम्बई महाविद्यालय से एम.डी. की डिग्री हासिल की। इसके बाद उच्च शिक्षा के लिए वे इंग्लैण्ड गए। पश्चिमी देश जाने से उन्हें बहुत लाभ हुआ। वहाँ उन्होंने शल्यक्रिया की नवीनतम प्रणालियाँ सीखीं और अनेक प्रसिद्ध चिकित्सकों से मिले। 1931 में वे रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन्ज़ (इंग्लैण्ड) के फ़ैलो चुने गए। इसके बाद वे भारत लौटे और बम्बई



के जे.जे. समूह के अस्पताल में प्रसूति एवं स्त्रीरोग विज्ञान के प्राध्यापक की हैसियत से काम करने लगे।

जे.जे. अस्पताल अद्वितीय है और सम्भवतः विश्व के विशालतम अस्पतालों में से एक है, जिसमें मरीजों के लिए 4,000 पलंग हैं। वहाँ 1,500 स्नातक और 650 स्नातकोत्तर छात्र हैं। 1845 में स्थापित, एशिया में पश्चिमी चिकित्सा पद्धति की इस सबसे पुरानी संस्था का इतिहास गौरवशाली रहा है। नोबल पुरस्कार से सम्मानित प्रसिद्ध वैज्ञानिक रॉबर्ट कॉक ने 19वीं शताब्दी के अन्त में तपेदिक पर अपना बुनियादी शोध इसी संस्था में किया था।

1940 में ग्रांट मेडिकल कॉलेज के प्रसूति एवं स्त्रीरोग विभाग में शिरोडकर ने मानद प्राध्यापक के पद पर कार्य आरम्भ किया। 1941 में वे नौरोसजी वाडिया मैटरनटी अस्पताल के साथ भी जुड़ गए। इसके साथ-साथ उनकी निजी प्रैक्टिस भी जारी रही, जिसमें वे समाज के सभी तबकों के मरीजों का इलाज करते थे। बम्बई में कम्बाला हिल स्थित अपने दवाखाने में वे रोज़ाना 14 से 16 घण्टे काम करते थे। उनके द्वारा किए जाने वाले हर ऑपरेशन के समय कई उत्सुक और प्रेरित दर्शक मौजूद होते थे। जल्द ही उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई और देश-विदेश में जगह-जगह व्याख्यान देने के लिए बुलाया जाने लगा। वे उन पहले लोगों में से थे जिन्होंने अपने द्वारा किए गए ऑपरेशनों की फिल्में बनाईं। उन्होंने स्त्री जननांगों की विकृति को ठीक करने के लिए दो प्रकार की शल्यक्रिया का आविष्कार किया। एक अनुमान के अनुसार दुनिया के किसी भी अन्य शल्यचिकित्सक की तुलना में शिरोडकर ने ट्यूबोप्लास्टी (Tuboplasty) के अधिक ऑपरेशन किए हैं!

1950 के दशक में गर्भावस्था की दूसरी तिमाही में स्वतः हो जाने वाला गर्भपात एक गूढ़ रहस्य था। उसके लिए तमाम इलाज सुझाए गए, परन्तु उनमें से कोई भी कारगर साबित नहीं हुआ। कभी-कभार होने वाली इस दर्दनाक समस्या के उपचार के लिए नई दृष्टि आवश्यक थी। इस समस्या का गहन अध्ययन करने के लिए वी.एन. शिरोडकर बिलकुल सही व्यक्ति थे। उन्होंने गर्भ ठहरने से पूर्व और उसके बाद की स्थिति में स्त्रियों की



सामान्य गर्भाशय में ग्रीवा बन्द होती है।



अक्षम (इनकम्पीटेंट) गर्भाशय में ग्रीवा खुली होती है।



शिरोडकर स्टिच द्वारा अक्षम (इनकम्पीटेंट) गर्भाशय में पूरे गर्भकाल के दौरान ग्रीवा को बन्द रखा जाता है।

गर्भाशय-ग्रीवा का अध्ययन किया और उसमें होने वाले बदलावों को समझा। गर्भाशय-ग्रीवा की प्रकृति पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया, जो सामान्य गर्भावस्था के दौरान एक तन्तुमय अंग से परिवर्तित होकर एक सक्रिय पेशीय अवयव बन जाती है। बार-बार स्वतः हो जाने वाले गर्भपात की समस्या के हल के लिए शिरोडकर ने एक शल्यक्रिया सुझाई, जिसने उन्हें और भारत को दुनिया में शल्य-प्रसूति एवं स्त्रीरोग के क्षेत्र में एक गौरवशाली स्थान पर पहुँचा दिया।

1955 में डॉक्टर शिरोडकर ने 'सर्वाइकल सर्कलेज' (cervical cerclage) नामक शल्यक्रिया का वर्णन किया, जिसने सदा-सदा के लिए अपनी उपयोगिता प्रमाणित की है। शिरोडकर ने अक्षम गर्भाशय के उपचार के

लिए कई उपकरणों का आविष्कार भी किया। समय के साथ इस शल्यक्रिया में अनेक सुधार हुए हैं परन्तु उनका सुझाया ऑपरेशन आज भी अत्युत्तम है। उन्होंने 1951 में पेरिस में एक अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार में और फिर 1956 में नेपल्स (इटली) में इस ऑपरेशन का जिक्र किया। इटली का सन्दर्भ इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी तकनीक से हॉलीवुड की एक प्रसिद्ध अभिनेत्री का सफल ऑपरेशन हुआ था। शिरोडकर खुद इतने बुद्धिमान थे कि यह जान सकें कि शल्यक्रिया का उनका यह तरीका हर प्रकार के गर्भपातों का रामबाण इलाज नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि किन परिस्थितियों में इस शल्यक्रिया के उपयोगी होने की सम्भावना है और किनमें नहीं।

इस नए ऑपरेशन का विचार शायद शिरोडकर को इसलिए सूझा क्योंकि वे सामान्य प्रतीत होने वाली हर चीज़ पर प्रश्न उठाते थे। शिरोडकर ने इसके बारे में स्वयं लिखा है: “पुराने दिग्गजों के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए भी, ऑपरेशन के उनके कई तरीकों को मैं एकदम सही और आदर्श नहीं मान सकता; पहले से प्रतिष्ठित इन तरीकों को बेहतर बनाने का विचार मेरे मन में कौंधा।”

1951 में फ्रेंच सोसाइटी ऑफ गायनेकॉलोजी (French Society of Gynaecology) के रजत जयन्ती समारोह के उपलक्ष्य में शिरोडकर ने अपने ऑपरेशन की एक फिल्म दिखाई। इसमें उन्होंने भेड़ की आँत से बने तीन तन्तुओं की पट्टी से गर्भाशय-ग्रीवा को बाँध रखा था। जल्द ही



शल्यक्रिया के कुछ औज़ार जिनका आविष्कार डॉक्टर शिरोडकर ने किया।

शिरोडकर को ज्ञात हुआ कि घुलनशील होने के कारण भेड़ की आँत के तन्तु इस काम के लिए अनुपयुक्त हैं। उन्होंने अपनी तकनीक में बदलाव कर जाँघ से प्रवरणी पट्टी (fascia lata) और सन के कपड़े के टाँके का उपयोग कर दूसरी तिमाही में होने वाले गर्भपात का इलाज किया। यह ऑपरेशन आज दुनिया भर में 'शिरोडकर ऑपरेशन' के नाम से जाना जाता है। आने वाली तमाम पीढ़ियाँ शिरोडकर को इस नवाचार के लिए याद करेंगी।

शिरोडकर ने चिकित्सा पत्रिकाओं में बहुत से शोधपत्र भी लिखे। 1960 में अपने निजी अनुभवों के आधार पर उन्होंने "काट्रिब्यूशन्स टू ऑब्स्टेट्रिक्स एंड गायनेकॉलजी" (प्रसूति एवं स्त्रीरोग विज्ञान में योगदान) नामक एक शोधपत्र लिखा। 1963 और 1970 में माइगस और स्टर्गिस द्वारा सम्पादित पुस्तक शृंखला प्रोग्रेस इन गायनेकॉलजी (*Progress in Gynaecology*) के खण्ड 4 और 5 के लिए उन्होंने "इनकम्पीटेण्ट सर्विक्स" (अक्षम गर्भाशय-ग्रीवा) पर एक-एक अध्याय लिखा। जननेन्द्रिय स्थानान्तरण (genital prolapse) पर उन्होंने अपने विचार 1967 में मारकस एवं मारकस द्वारा सम्पादित पुस्तक एडवांसेज़ इन ऑब्स्टेट्रिक्स एंड गायनेकॉलजी (*Advances in Obstetrics and Gynaecology*) में लिखे। उन्होंने गर्भ-निरोध या बन्ध्यकरण के लिए गर्भाशय-ग्रीवा पर एक ढक्कन लगाने का सुझाव भी दिया।

7 मार्च 1971 को बम्बई में शिरोडकर का देहान्त हुआ। उनकी माँ का देहान्त गर्भाशय के कैंसर से हुआ था। इसी वजह से वी.एन. शिरोडकर के बेटे मनोहर शिरोडकर ने इस बीमारी के कारक विषाणुओं पर शोध करने की ठानी। शुरू में उन्होंने जॉन हॉपकिन्स स्कूल ऑफ पब्लिक हेल्थ में राउस सरकोमा (Rous sarcoma) नामक विषाणु पर शोधकार्य किया; ठोस कैंसर फैलाने वाला यह पहला वायरस खोजा गया। बाद में मनोहर ने रॉकफेलर फाउंडेशन के पुणे स्थित वायरस रिसर्च सेंटर (Virus Research Centre) में कार्य किया।

छात्रावस्था में मनोहर ने डॉक्टरी के पेशे से अपना मुँह मोड़ लिया था, परन्तु वे दिल से अपने पिता के काम का बहुत आदर करते थे। 1976 में

मनोहर और उनकी पत्नी ने डॉक्टर वी.एन. शिरोडकर मेमोरियल रिसर्च फाउंडेशन (Dr. V.N. Shirodkar Memorial Research Foundation) की स्थापना की जिसमें उन्होंने अपने और अपने पिता के सपनों को साकार किया। यह संस्था गरीब महिलाओं में गर्भाशय के कैंसर की जाँच करती है और उनके इलाज के लिए जैविक विषाणुरोधी खोजती है।

अत्यन्त व्यस्त शल्यचिकित्सक होने के बावजूद वी.एन. शिरोडकर ने बहुत से शोधपत्र लिखे और उपचार के सामाजिक पक्षों में गहरी रुचि ली। वे गर्भपात के विषय पर भारत सरकार द्वारा गठित शान्तिलाल शाह समिति के सदस्य थे और उन्होंने भारत में परिवार नियोजन संघ (Family Planning Association) की स्थापना की। 1971 में भारत सरकार ने वी.एन. शिरोडकर को पद्म विभूषण से सम्मानित किया।



टी.आर. शेषाद्री

(1900 - 1975)

केवल धन और साधन से ही अच्छा शोधकार्य नहीं होता, ये सिर्फ सहायक हैं और इनके पीछे का मानवीय तत्व ही महत्वपूर्ण है।

— टी.आर. शेषाद्री

टी.आर. शेषाद्री का जन्म 3 फरवरी 1900 को कुलीतलाई में हुआ जो तिरुचिरापल्ली ज़िले में कावेरी नदी के किनारे पर स्थित एक छोटा शहर है। उनके पिता टी. अयंगर एक स्थानीय विद्यालय में शिक्षक थे। शेषाद्री की प्रारम्भिक शिक्षा मन्दिरों के शहर श्रीरंगम और तिरुचिरापल्ली में हुई। उनके शिक्षकों ने उनके हृदय में कर्तव्यपालन, समाज के प्रति कृतज्ञता और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम के बीज बोने के साथ-साथ ज्ञान के प्रति पिपासा भी जागृत की। 1917 में शेषाद्री ने मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज में बी.एससी. (रसायन विज्ञान) के लिए दाखिला



लिया। कॉलेज की पढ़ाई के दौरान वे रामकृष्ण मिशन द्वारा संचालित छात्रावास में रहते थे। आश्रम के संन्यासियों से सीखे आध्यात्मिक मूल्य उन्होंने जीवन भर के लिए आत्मसात् कर लिए। कॉलेज में उन्हें बी.बी. डे और पी. नारायण अय्यर ने पढ़ाया; इन शिक्षकों का उन्होंने जीवन भर सम्मान किया और उन्हें याद रखा। बी.एससी. की पढ़ाई समाप्त करने के बाद शेषाद्री ने एक साल रामकृष्ण मिशन में काम किया। बाद में उन्होंने प्रेसिडेंसी कॉलेज के रसायन विज्ञान विभाग में शोधकार्य शुरू किया। रासायनिक संश्लेषण (chemical synthesis) में उनके उत्कृष्ट कार्य के लिए उन्हें मद्रास विश्वविद्यालय ने सर विलियम वेडरबर्न पुरस्कार और कर्जन पुरस्कार से सम्मानित किया।

1927 में भारत सरकार ने इंग्लैण्ड में उच्च शिक्षा पाने के लिए शेषाद्री को एक वजीफा दिया। इंग्लैण्ड के मैंचेस्टर विश्वविद्यालय में शेषाद्री ने विख्यात कार्बनिक रसायन विज्ञानी



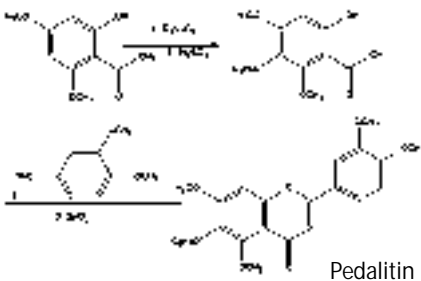
प्रोफेसर रॉबर्ट रॉबिन्सन के मार्गदर्शन में शोधकार्य किया। प्रोफेसर रॉबिन्सन बाद में रॉयल सोसाइटी के अध्यक्ष बने और उन्हें नोबल पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। शेषाद्री ने मलेरिया की रोकथाम की औषधियों और यौगिकों के संश्लेषण पर पथप्रदर्शक कार्य किया। इस शोधकार्य के लिए 1929 में उन्हें मैंचेस्टर विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की गई। प्रोफेसर रॉबिन्सन के साथ बिताए समय को शेषाद्री ने अपने शोध जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना माना।

डॉक्टरेट की उपाधि पाने के बाद शेषाद्री ने कुछ महीने ऑस्ट्रिया में नोबल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर फ्रिट्ज प्रेगल के साथ कार्य किया। प्रोफेसर प्रेगल रसायन विज्ञान में कार्बनिक सूक्ष्म-विश्लेषण (organic micro-analysis) के अपने काम के लिए विख्यात थे। शेषाद्री ने एडिनबरा विश्वविद्यालय के चिकित्सा-रसायन विज्ञान विभाग में प्रोफेसर जॉर्ज बार्जर के साथ भी काम किया। 1930 में शेषाद्री भारत वापस लौटे।

1934 में उन्होंने आन्ध्र विश्वविद्यालय में रसायन विज्ञान विभाग में

विभागाध्यक्ष व रीडर के पद पर काम आरम्भ किया। यहाँ उन्होंने बहुत मेहनत से नई प्रयोगशालाएँ खोलीं, नया पाठ्यक्रम बनाया और रसायन विज्ञान के एक अत्यन्त जीवन्त शोध केन्द्र की स्थापना की। इस बीच विश्वविद्यालय ने उन पर रासायनिक प्रौद्योगिकी एवं औषधीय रसायन विज्ञान के नए विभागों की स्थापना का दायित्व भी सौंपा। इसके बावजूद उन्होंने अपना शोधकार्य लगातार जारी रखा। इस दौरान उन्हें अक्सर आन्ध्र मेडिकल कॉलेज स्थित जैव-रसायन विज्ञान (biochemistry) विभाग की ओर अपनी साइकिल पर जाते हुए देखा जा सकता था, जो 5 कि.मी. दूर विशाखापट्टनम में स्थित था। काम के प्रति शेषाद्री के समर्पण से प्रेरित होकर उनके बहुत से युवा छात्रों ने भी शोधकार्य प्रारम्भ किया और अनुसन्धान को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया। जल्द ही आन्ध्र विश्वविद्यालय देश में रसायन विज्ञान पर मौलिक शोध का एक अग्रणी केन्द्र बन गया।

दूसरे विश्वयुद्ध ने शेषाद्री के काम में बाधा डाली। युद्ध के कारण यूरोप से आने वाले रसायनों और उपकरणों का मिलना दुश्वार हो गया। उसी समय फौज की एक टुकड़ी ने वॉल्टेयर स्थित रसायन विज्ञान विभाग की इमारत में डेरा डाला। इस कारण पहले तो शेषाद्री को गुण्टूर और उसके बाद मद्रास जाना पड़ा। पर इस दौड़-धूप में भी उन्होंने अपना शोधकार्य जारी रखा। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् वॉल्टेयर की प्रयोगशाला का पुनर्निर्माण हुआ और शेषाद्री वापस वहाँ लौटे।



शेषाद्री ने तिल में पाए जाने वाली फ्लेवोनॉइड (Flavenoid) को संश्लेषित करने का तरीका विकसित किया।

1949 में शेषाद्री को दिल्ली विश्वविद्यालय के उप-कुलपति सर मौरिस ग्वायर ने रसायन विज्ञान विभाग का कार्यभार सम्हालने का निमंत्रण दिया। शेषाद्री ने इस चुनौती को स्वीकारा और अल्पकाल में प्राकृतिक उत्पादों के रसायन विज्ञान का एक विश्वस्तरीय केन्द्र स्थापित किया। देश के कोने-कोने से और बाद में

दुनिया भर से छात्र उनके मार्गदर्शन में शोधकार्य करने के लिए आने लगे। उनकी विशाल टीम में इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी के पीएच.डी. उपरान्त शोधकार्य करने वाले अध्येता भी शामिल थे। शेषाद्री ने 160 से अधिक पीएच.डी. छात्रों का मार्गदर्शन किया और कुल मिलाकर एक हजार से अधिक शोधपत्र लिखे। उनके छात्र आज दुनिया भर में फैले हैं और देश-विदेश की शैक्षणिक एवं शोध संस्थाओं में वरिष्ठ पदों पर आसीन हैं। शेषाद्री ने एक पुस्तक *केमिस्ट्री ऑफ विटामिन्स एंड हॉर्मोन्स (Chemistry of Vitamins and Hormones / विटामिनों और हॉर्मोनों का रसायन विज्ञान)* भी लिखी। सेवानिवृत्ति के तुरन्त बाद उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम अवकाश-प्राप्त प्राध्यापक (Professor Emeritus) के पद पर नियुक्त किया गया।

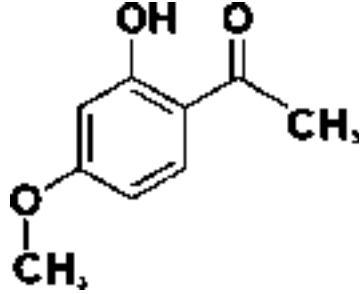
वनस्पतियों और प्राणियों के रंगों के प्रकार और विविधता में शेषाद्री की विशेष रुचि थी। शुरू में उन्होंने कपास और गुड़हल की विभिन्न प्रजातियों के फूलों के रंगद्रव्यों (pigments) पर शोधकार्य किया। उन्होंने कई नए यौगिकों की संरचनाओं की व्याख्या की और साथ-साथ विश्लेषण के कई नए



तरीके ईजाद किए जो आज रसायन विज्ञान के अध्ययन में आम हैं। उनकी जैव-संश्लेषण (Biosynthesis) में गहरी रुचि थी और इस क्षेत्र में उन्होंने पथप्रदर्शक कार्य किया। हिमालय क्षेत्र में पाए जाने वाले शैवालों (lichens) पर रासायनिक शोध शुरू करने वाले शेषाद्री पहले भारतीय थे।

शेषाद्री की विशेषज्ञतापूर्ण सलाह एवं परिपक्व ज्ञान का अनेक संगठनों को लाभ मिला – इनमें वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद, भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद और परमाणु ऊर्जा विभाग शामिल हैं। शेषाद्री ने शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान, कृषि और रक्षा से सम्बन्धित विशेषज्ञ समितियों की अध्यक्षता की। वे मंत्रिपरिषद और संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO) के वैज्ञानिक सलाहकार भी रहे। उन्हें बहुत से सम्मानों व पुरस्कारों से सुशोभित किया गया। 1961 में शेषाद्री रॉयल सोसाइटी के फेलो चुने गए।

कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि से भी नवाजा। वे भारतीय विज्ञान कांग्रेस और भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष भी रहे। वे अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं - टेट्राहेड्रन (*Tetrahedron*) और फाइटोकेमिस्ट्री (*Phytochemistry*) के सम्पादक मण्डल के सदस्य भी रहे। 1963 में भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण से सम्मानित किया।



शोषाद्री ने फीनॉल के प्रोदलीयन (*o*-methylation) की तकनीक ईजाद की जो अब बहुत उपयोग की जाती है।

प्रोफेसर शोषाद्री के इस उच्च स्तर तक पहुँचने के पीछे उनकी गहरी कर्तव्यनिष्ठा थी। हालाँकि अपने छात्रों का प्रेम उन्हें सबसे प्रिय था। उन्होंने अपने छात्रों की जी-जान से मदद की, जिसमें ज़रूरत पड़ने पर आर्थिक

ODAP

L-glutamate

शोषाद्री ने खेसारी दाल की विषाक्तता का अध्ययन किया। खेसारी में विभिन्न मात्राओं में तंत्रिका कोशिकाओं को प्रभावित करने वाला विष ओ.डी.ए.पी. (ODAP) होता है। यदि अधिक मात्रा में लिया जाए तो इससे मनुष्यों और मवेशियों में पक्षाघात को सकता है। ओ.डी.ए.पी. में विषाक्तता का विचार एल-ग्लुटामेट (L-glutamate) नामक तंत्रिका-पारिषक (*neurotransmitter*) के साथ उसकी संरचनात्मक समानता को देखकर आया।

सहायता करना भी शामिल था। अपने छात्रों के बीच रहने के लिए उन्होंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्षता को नकार दिया। छात्रों ने अपने प्रेरक शिक्षक के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए उनके 60वें, 65वें, 70वें और 75वें जन्मदिन पर स्मरणोत्सव ग्रन्थ प्रकाशित किए। उन्होंने शेषाद्री की याद में कई निधियाँ भी स्थापित कीं।

सेवानिवृत्ति के बाद भी शेषाद्री अपने छात्रों के मार्गदर्शन और सहायता के लिए सदैव मौजूद रहते थे। दिल्ली विश्वविद्यालय में एक ही समय में शेषाद्री के लगभग 25 छात्र तीन अलग-अलग इमारतों में स्थित आधा दर्जन प्रयोगशालाओं में शोधकार्य करते। वे नियमित रूप से दिन में कम से कम चार बार अपने सभी छात्रों से मिलने अवश्य जाते और उनकी समस्याओं पर चर्चा करते। उन्हें आशा थी कि सेवानिवृत्ति के बाद भी रसायन विज्ञान, जिसकी उन्होंने सालों तक सेवा की थी, उनके जीवनयापन के लिए कुछ साधन उपलब्ध कराएगा। 1965 में उन्होंने अपना सम्पूर्ण निजी पुस्तकालय दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन विज्ञान विभाग को दान कर दिया। वे अपनी आखिरी साँस तक इसी विभाग में काम करते रहना चाहते थे। दुर्भाग्य से 1972 में दिल्ली विश्वविद्यालय ने कुछ नए नियम लागू किए जिसकी वजह से वे विभाग से कोई भी पारिश्रमिक नहीं ले सकते थे। इससे उनकी आर्थिक व्यवस्था एकदम चरमरा गई। उनके पास शोध करने के लिए कोई अनुदान या जीवनयापन का कोई साधन नहीं बचा। भारत के इस महान सपूत का देहान्त 27 सितम्बर 1975 को इस हालत में हुआ।



पंचानन माहेश्वरी

(1904 - 1966)

पंचानन माहेश्वरी एक प्रख्यात वैज्ञानिक थे जिन्होंने भारत को विश्व के वनस्पतिशास्त्रीय नक्शे पर एक प्रमुख स्थान दिलाया। उनका जन्म 9 नवम्बर 1904 को जयपुर में हुआ। संस्कृत में 'पंचानन' का अर्थ होता है 'पंचमुखी' यानि पाँच लोगों जितना बुद्धिमान। इस विशेष नाम की महिमा जल्द ही उजागर हुई। पंचानन के पिता एक क्लर्क थे परन्तु उन्होंने अपने बेटे की अच्छी पढ़ाई के लिए कोई भी कसर बाकी नहीं छोड़ी। पंचानन ने अपनी प्रारम्भिक पढ़ाई जयपुर में की। 13 वर्ष की अल्पायु में उन्होंने हाईस्कूल पास किया। आँखों की कमजोरी के कारण वे डॉक्टरी की पढ़ाई नहीं कर पाए। परन्तु उन्होंने विज्ञान की पढ़ाई की और उसमें बड़ी कामयाबी हासिल की।

1923 में पंचानन ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध इविंग क्रिश्चियन कॉलेज से बी.एससी. की। यहाँ पंचानन की भेंट अमरीका के एक विलक्षण मिशनरी शिक्षक विनफील्ड स्कॉट डुडजियोन से हुई। वे एक प्रख्यात अमरीकी वनस्पतिशास्त्री और इण्डियन बॉटेनिकल सोसाइटी



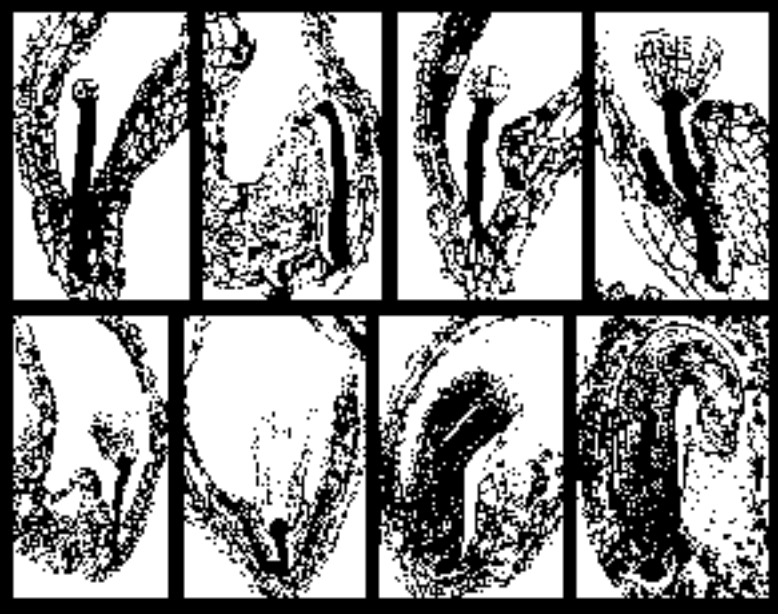
(Indian Botanical Society) के संस्थापक अध्यक्ष थे। छात्र उनका बहुत आदर करते थे परन्तु उनसे डरते भी थे क्योंकि वे छात्रों से जमकर काम करवाने के लिए जाने जाते थे। परन्तु माहेश्वरी के रूप में डुडजियोन को एक ऐसा उत्कृष्ट छात्र मिला जिसकी वे मुद्दत से तलाश कर रहे थे। डुडजियोन फील्ड-यात्राओं पर वनस्पतियों के नमूने एकत्रित करने के लिए युवा माहेश्वरी को साथ ले जाते थे। उन्होंने ही माहेश्वरी को वनस्पति आकृति विज्ञान (plant morphology) के बुनियादी गुरु सिखाए। एक बार डुडजियोन ने कहा, “एक हिन्दू पिता अपने बेटे को अच्छी शिक्षा देने के पश्चात् ही अपने जीवन को सफल मानता है। मेरा खुद का बेटा जल्द ही चल बसा, परन्तु मैं एक ऐसा छात्र देकर जाना चाहता हूँ जो मेरे काम को आगे बढ़ाएगा।”

माहेश्वरी पढ़ाई में बहुत होशियार थे। उन्होंने एम.एससी. (1927) और डी. एससी. (1931) की पढ़ाई डुडजियोन के मार्गदर्शन में पूरी की। उन्होंने फूल उत्पन्न करने वाले पौधों (angiosperms) के आकृति विज्ञान, संरचना और प्रजनन का अध्ययन किया। पढ़ाई समाप्त करने के बाद माहेश्वरी अपने शिक्षक डुडजियोन को गुरुदक्षिणा देने गए। गुरु ने कहा, “अपने छात्रों के लिए वही करो जो मैंने तुम्हारे लिए किया है।” यह सन्देश माहेश्वरी कभी नहीं भूले। उसके बाद वे जहाँ भी गए, आगरा, ढाका या फिर दिल्ली, उन्होंने अपने गुरु को दिया वचन निभाया।

1931 में आगरा महाविद्यालय में नौकरी लगने के तुरन्त बाद उन्होंने पौधों के प्रजनन पर शोध कार्य आरम्भ कर दिया। साधनों के अभाव के बावजूद उन्होंने पैसे एकत्रित कर एक सूक्ष्मदर्शी और एक सूक्ष्मकर्तक (microtome) खरीदा। (सूक्ष्मकर्तक पौधों की पतली परत काटने के काम आता है।) घर में उनकी पत्नी शान्ति – जो कभी स्कूल नहीं गई थीं – उच्च कोटि के स्लाइड बनाने में उनकी मदद करती थीं!

हमें मालूम है कि जब किसी कीड़े या हवा के





सरसों परिवार के पौधे के भ्रूण का विकासक्रम

झोंके द्वारा पौधे के डिम्ब में पराग के कण पहुँचते हैं तभी निषेचन (fertilization) होता है। यह क्रिया फूल के अण्डाशय में घटित होती है और इससे भ्रूण पैदा होता है। भ्रूण, अर्थात् अजन्मा नन्हा पौधा, अपने आसपास की मिट्टी से भोजन प्राप्त करता है और धीरे-धीरे एक पौधे के रूप में पनपता है। भ्रूण से पौधा बनने की प्रक्रिया हरेक प्रजाति के लिए अलग-अलग होती है। माहेश्वरी ने फूलों वाले पौधों की कई प्रजातियों में विकास की इस प्रक्रिया का अध्ययन किया। उन्होंने भ्रूण विज्ञान के अपने अध्ययन में मिली विभिन्नताओं के आधार पर उन्हें वर्गीकृत किया।

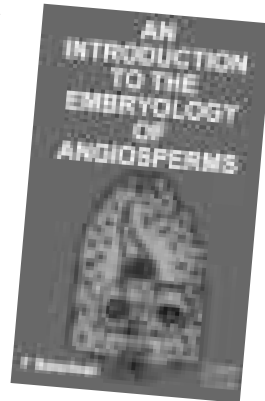
1936-37 में माहेश्वरी यूरोप और इंग्लैण्ड के दौरे पर गए जहाँ वे कई मूल्यवान सम्पर्क-सूत्र स्थापित करने में सफल रहे। विदेश से लौटने के पश्चात् उन्होंने कुछ समय विख्यात जीवाश्म-वनस्पति वैज्ञानिक प्रोफेसर बीरबल साहनी के साथ काम किया। 1939 में उन्होंने ढाका विश्वविद्यालय में जीव विज्ञान का नया विभाग प्रारम्भ किया। वहाँ उनकी भेंट सत्येन्द्र नाथ बोस और मेघनाद साहा जैसे चोटी के वैज्ञानिकों के साथ हुई। माहेश्वरी ने

ढाका विश्वविद्यालय में 10 वर्ष काम किया और वहाँ वनस्पतिशास्त्र का एक फलता-फूलता केन्द्र स्थापित किया। 1947 में बँटवारे के पश्चात् पूर्वी पाकिस्तान के अधिकारियों ने उनसे अपना काम जारी रखने की विनती की। परन्तु तभी माहेश्वरी को एक ऐसा निमंत्रण मिला जिसे वे ठुकरा नहीं पाए।

1949 में दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति मौरिस ग्वायर (जो भारत में अन्तिम अँग्रेज़ मुख्य न्यायाधीश भी थे) ने माहेश्वरी को नवनिर्मित वनस्पतिशास्त्र विभाग का अध्यक्ष पद सम्भालने के लिए आमंत्रित किया। यह माहेश्वरी के जीवन का सर्वाधिक रचनात्मक एवं सफल काल रहा। 1950 में उनकी शोहरत दूर-दूर तक फैल चुकी थी। वे अद्भुत व्यक्तिगत गुणों से सम्पन्न थे और उनकी याददाश्त विलक्षण थी। वे स्पष्टवादी व रुढ़िमुक्त थे तथा उनमें असीम ऊर्जा थी। वे प्रखर विद्वान और प्रेरक शिक्षक थे। उनका मंत्र था – “कर्म ही पूजा है।” उनके आदर्श और मानदण्ड बहुत ऊँचे थे और वे घटिया काम कभी स्वीकार नहीं करते थे। वे अपने काम में मुस्तैद और समय के पाबन्द थे।

माहेश्वरी ने अपने छात्रों को कम कीमत के उपकरणों से शोध करने के लिए प्रेरित किया। धीरे-धीरे उनके प्रयासों का असर हुआ। जल्द ही उनके विभाग ने खूब प्रगति की और विदेशों में भी उसकी शोहरत फैली। इसके अलावा, विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों की भी वनस्पति भ्रूण-विज्ञान में रुचि जगी और वे भी इस विषय पर शोध करने लगे। माहेश्वरी को आधुनिक वनस्पति भ्रूण-विज्ञान का पिता कहा जा सकता है।

माहेश्वरी ने परखनली में फूल वाले पौधों के प्रजनन की तकनीक खोज निकाली। इससे पहले किसी ने परखनली में फूल वाले पौधों के प्रजनन की कल्पना तक नहीं की थी। इससे बीजों की सुप्त अवस्था की अवधि कम हुई और उनके प्रजनन की गति ने तेज़ी पकड़ी। अब फूलों वाले पौधों की अनेक संकर प्रजातियाँ



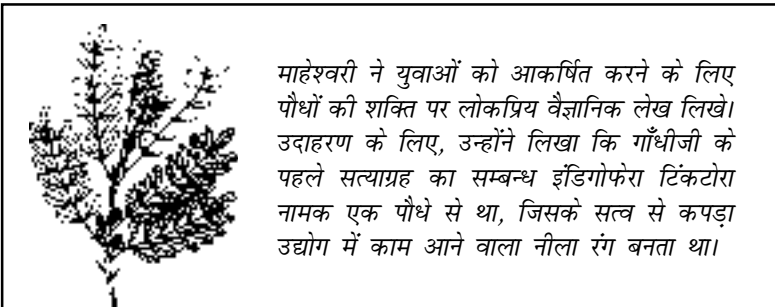
तैयार करना सम्भव था। पौधे तैयार करने वालों के लिए यह तकनीक उपयोगी सिद्ध हुई; इससे कई आर्थिक लाभ हुए एवं साथ ही आर्थिक तथा व्यावहारिक वनस्पति-



शास्त्र में नए क्षेत्र खुलने का पथ प्रशस्त हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय में आने के तुरन्त बाद उन्होंने एन इंट्रोडक्शन टू द एम्ब्रियोलॉजी ऑफ एंजियोस्पर्म्स शीर्षक से एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक एक अनूठी कृति समझी जाती है और इसका अनुवाद रूसी भाषा समेत कई भाषाओं में हो चुका है। प्रकाशन के 50 वर्ष बाद भी इस किताब का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया जाता है।

माहेश्वरी के काम ने वनस्पतिशास्त्र के सभी पक्षों को छुआ, इसलिए उन्हें एक सम्पूर्ण वनस्पतिशास्त्री मानना गलत न होगा। माहेश्वरी और उनके छात्रों ने फलों वाले पौधों के सौ से भी अधिक कुलों का गहन अध्ययन किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने अनेक संदिग्ध त्रुटियों को पहचाना और उन्हें ठीक किया। दिल्ली की वनस्पतियों पर एक पुस्तक द इलस्ट्रेटेड फ्लोरा ऑफ देहली (The illustrated Flora of Delhi) उनके मार्गदर्शन में लिखी गई। यह पिछले 50 वर्षों से दिल्ली के प्रकृति-प्रेमियों और वनस्पतिशास्त्रियों के लिए एक अधिकृत फील्ड-गाइड का काम कर रही है।

1951 में उन्होंने इंटरनेशनल सोसाइटी ऑफ प्लांट मॉर्फोलोजिस्ट्स की



माहेश्वरी ने युवाओं को आकर्षित करने के लिए पौधों की शक्ति पर लोकप्रिय वैज्ञानिक लेख लिखे। उदाहरण के लिए, उन्होंने लिखा कि गाँधीजी के पहले सत्याग्रह का सम्बन्ध इंडिगोफेरा टिंकटोरा नामक एक पौधे से था, जिसके सत्व से कपड़ा उद्योग में काम आने वाला नीला रंग बनता था।

स्थापना की और साथ में उसकी विज्ञान पत्रिका *फाइटोमॉर्फोलॉजी (Phytomorphology)* शुरू की। युवा छात्रों के लेखन को प्रखर बनाने के लिए उन्होंने *द बॉटैनिका (The Botanica)* नामक पत्रिका शुरू की, जिसका प्रकाशन देहली यूनिवर्सिटी बॉटैनिकल सोसाइटी करती थी। पत्रिका में रोचक व ज्ञानवर्धक जानकारी होने के कारण उसे तुरन्त सफलता मिली। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) के आग्रह पर उन्होंने हायर सेकण्डरी स्कूल के छात्रों के लिए जीव विज्ञान की एक पाठ्यपुस्तक लिखी। उसमें भारतीय पेड़-पौधों के बहुत प्रेरक उदाहरण संकलित किए गए थे। बहुत से शिक्षाविद् इस पुस्तक को माहेश्वरी का चिरस्थायी एवं सर्वाधिक मौलिक योगदान मानते हैं।

कक्षा में माहेश्वरी अपने गुरु डुडजियन जैसे ही थे। उनके छात्र उनसे एक ओर बहुत प्रेम करते तो दूसरी ओर डरते भी थे। उनके सम्मान में छात्रों ने पौधों की नई खोजी गई अनेक प्रजातियों को उनके नाम समर्पित किया – जैसे पंचाननिया जयपुरीएन्सिस, आईसोईट्स पंचानिनी। माहेश्वरी ने स्तालिन के प्रिय जीव वैज्ञानिक ट्रॉफिम लाईसेन्को से अकेले लोहा लिया, जिन्होंने उपार्जित लक्षणों के वंशानुक्रमण की छलपूर्वक वकालत की थी।

पंचानन माहेश्वरी विश्व के वैज्ञानिक-नागरिक थे और कई देशों की वैज्ञानिक अकादमियों ने उन्हें अपनी सदस्यता प्रदान की। 1934 में वे भारतीय विज्ञान अकादमी, बैंगलोर के सदस्य बने। 1958 में इण्डियन बॉटैनिकल सोसाइटी ने उन्हें बीरबल साहनी पदक से सम्मानित किया। 1968 में उन्हें भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए चुना गया। परन्तु 18 मई 1966 को आकस्मिक मृत्यु के कारण यह भूमिका वे निभा नहीं पाए। 1966 में ही उन्हें रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो चुना गया। माहेश्वरी एक गम्भीर व्यक्ति थे और उन्होंने यह बात अपने परिवारजनों तक को नहीं बताई। परिवार के लोगों ने बाद में यह खबर अखबार में पढ़ी।



इरावती कर्वे

(1905 - 1970)

इरावती कर्वे भारत की पहली महिला मानवशास्त्री (anthropologist) थीं। उन्होंने इस विषय को उस वक्त उठाया जब वह अपने बाल्यकाल में ही थी। उन्होंने इस क्षेत्र में अग्रणी काम किया। इस विषय को पुणे विश्वविद्यालय में सबसे पहले पढ़ाने का श्रेय भी उन्हीं को है। वे भारतशास्त्री (Indologist) थीं और साथ ही लोकगीतों की संकलनकर्ता व नारीवादी गीतों की अनुवादक भी थीं। अपनी पुस्तक *युगान्त* में उन्होंने प्राचीन ग्रन्थ *महाभारत* की एक क्रान्तिकारी व्याख्या कर पाठकों की समझ को बदल डाला।

इरावती का जन्म 1905 में हुआ। उनके पिता गणेश हरि करमरकर म्यांमार (तत्कालीन बर्मा) में काम करते थे। इसलिए उनका नाम वहाँ की प्रसिद्ध नदी इरावदी पर रखा गया। सात साल की उम्र में इरावती को पुणे के हुजूर पागा बोर्डिंग स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। स्कूल में शकुन्तला परांजपे उनकी सहेली थी जो फरग्यूसन कॉलेज के प्राचार्य रैंगलर परांजपे की बेटी थी। शकुन्तला की माँ को इरावती पहली नजर में भा गई और उन्होंने इरावती को गोद ले



लिया। अपने नए घर में इरावती को एक अत्यन्त बौद्धिक माहौल मिला और बहुत सारी रोचक पुस्तकें पढ़ने को मिलीं।

इरावती ने फरग्यूसन कॉलेज में दर्शन शास्त्र का अध्ययन कर 1926 में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। फिर उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के विभागाध्यक्ष जी.एस. घूर्ये के मार्गदर्शन में काम करने के लिए दक्षिणा फैलोशिप मिली। इस बीच इरावती का विवाह रसायनशास्त्री दिनकर धोण्डो कर्वे से हुआ। दिनकर प्रसिद्ध समाजसेवी महर्षि कर्वे के सुपुत्र थे। महर्षि कर्वे ने विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा का बीड़ा उठाया था।

एक प्रगतिशील परिवार में शादी होने से कुछ खास फायदा नहीं हुआ। वैसे तो महर्षि कर्वे सार्वजनिक रूप से महिलाओं को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे, परन्तु यह उदारवाद उनके अपने परिवार पर लागू नहीं होता था। जब इरावती ने उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी जाने की कोशिश की तो महर्षि कर्वे ने उसका पुरजोर विरोध किया।

विरोध के बावजूद इरावती 1928 में जर्मनी के कैसर विल्हेल्म इंस्टिट्यूट फॉर एन्थ्रोपॉलाजी में पीएच.डी. करने गईं। उनके शोध का विषय था – “द नार्मल एसिमेट्री ऑफ द ह्यूमन स्कल।” (The normal asymmetry of the human skull/मानव कपाल की सामान्य असममिति।) शुरुआत में ही इरावती और दिनकर समझ गए थे कि समाजसेवा उनके बस की बात नहीं है। इसलिए उन दोनों ने अध्यापन और शोध के क्षेत्र चुने। दिनकर रसायन विज्ञान के प्राध्यापक थे। वे बाद में फरग्यूसन कॉलेज के प्राचार्य बने। दिनकर अपनी पत्नी की विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा से परिचित थे और उन्होंने इरावती का भरपूर समर्थन किया। उन्होंने घर-गृहस्थी की ज़िम्मेदारी सम्हाली, ताकि इरावती अपना शोधकार्य कर सकें। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि हमेशा इरावती के स्कूटर में पेट्रोल और पर्स में पैसे रहें!

इरावती पुणे में स्कूटर चलाने वाली पहली महिला थीं। उन्होंने माँग में कुमकुम भरने और मंगलसूत्र पहनने से इन्कार कर दिया। परन्तु चन्द परम्पराएँ तोड़ने के बावजूद इरावती ने एक मध्यमवर्गीय





हिन्दू जीवन ही जिया। स्कूल में उन्होंने संस्कृत सीखी जो उस काल के छात्रों के लिए अनिवार्य थी। इरावती के पिता ने उन्हें भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट द्वारा प्रकाशित *महाभारत* के 18 खण्ड भेंट किए। इरावती को यह भेंट बहुत पसन्द आई। बाद में उन्होंने *महाभारत* पर आधारित अपनी मौलिक कृति *युगान्त* लिखी। इसे 1967 में साहित्य अकादमी ने मराठी की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक के रूप में पुरस्कृत किया। इस पुस्तक में भारतीयों द्वारा सदियों से सम्मानित *महाभारत* के उत्कृष्ट मानवीय पात्रों और महारथियों की पैनी समीक्षा की गई है।

जर्मनी से वापस आने के बाद इरावती ने 1931-36 के बीच बम्बई के एस. एन.डी.टी. विमेंस यूनिवर्सिटी में रजिस्ट्रार के पद पर काम किया। 1939 से उन्होंने नवनिर्मित डेक्कन कॉलेज, पुणे में समाजशास्त्र के रीडर के पद पर काम किया और वहीं से सेवानिवृत्त हुईं। कुछ समय तक वे समाजशास्त्र विभाग में एकमात्र प्राध्यापिका थीं। परिणामस्वरूप उन्हें इस विषय के सभी परचे पढ़ाने पड़ते थे, जो बहुत बोझिल काम था।

इरावती अपने एम.ए. के पर्यवेक्षक जी.एस. घूर्ये के शोध से प्रभावित थीं। दोनों ही भारतीय समाज के आधार के रूप में परिवार, सगोत्रता, जाति और धर्म के महत्व को समझते थे। इरावती समाज का अपेक्षाकृत अधिक समावेशी चित्र गढ़ने के लिए विभिन्न जातियों और आदिवासी समाजों का सर्वेक्षण करना चाहती थीं। इरावती बहुत जिज्ञासु थीं और पुरातात्विक

अन्वेषण जैसे शोध के नए क्षेत्रों में फील्ड वर्क (field work) करने की उनमें गहरी लगन थी।

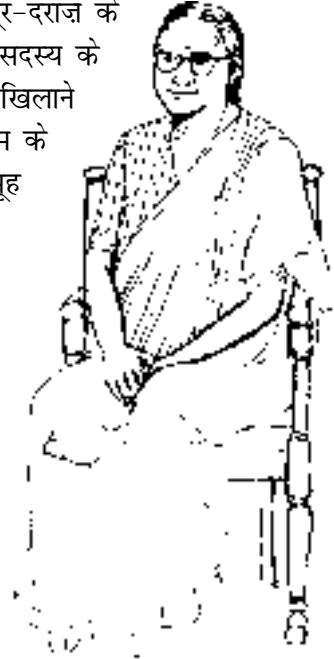
इरावती ने कुल मिलाकर अँग्रेजी में 102 लेख और पुस्तकें लिखीं। उन्होंने आठ पुस्तकें मराठी में भी लिखीं। उनके लेखन का न केवल विस्तार विलक्षण था, बल्कि वह उनके समकालीन विद्वानों की तुलना में अद्वितीय भी था। उन्होंने शारीरिक मानवशास्त्र और पुरातत्व पर काम किया और पाषाण युग के कंकालों का उत्खनन किया। जाति व्यवस्था, लोकगीतों, महाकाव्यों और मौखिक परम्पराओं को भी उन्होंने लिपिबद्ध किया। उनके द्वारा किया गया साप्ताहिक बाजारों और बाँधों से उजड़े लोगों का सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण आज भी सामयिक और महत्वपूर्ण है।

बाद में इरावती के एक प्रतिभावान छात्र कैलाश मल्होत्रा ने दो घुमन्तू पशुपालक जनजातियों – धनगर और नन्दीवाला – की मानव पारिस्थितिकी पर पथप्रदर्शक शोध किया।

देश के प्रबुद्ध पुरातत्ववेत्ता हसमुख संकालिया ने एक घटना को याद करते हुए बताया कि एक बार वे और इरावती कहीं दूर-दराज के गाँव में सर्वेक्षण कर रहे थे। उनके दल के एक सदस्य के अछूत होने के कारण गाँव वालों ने उन्हें खाना खिलाने से इन्कार कर दिया। इस कारण दिन भर के काम के बाद थकी-माँदी इरावती को रात को खुद पूरे समूह

उन दिनों किसी महिला के लिए फील्ड-वर्क करना कोई आसान काम नहीं था। इरावती के अपने शब्दों में:

“मैं अपने काम के सिलसिले में इधर-उधर भटकती थी। मुझे यह तक नहीं पता होता था कि मेरा अगला कदम किधर उठेगा या अगला खाना कहाँ मिलेगा...। बीच-बीच में थोड़ा सुस्ताने और खाना खाने के बाद मैं लोगों से खचाखच भरी बसों में एवं आदमियों और औरतों से भरे रेल के तृतीय श्रेणी के डिब्बे में दुबारा सफर शुरू कर देती...।”



के लिए खाना भी बनाना पड़ता था। छुट्टियों में वे अपने काम के सिलसिले में घूमती रहतीं जबकि बच्चे घर पर ही रहते और उनकी लाई नई चीजें देखने और यात्राओं की रोचक कहानियाँ सुनने को आतुर रहते। कभी-कभी बच्चे भी उनके साथ घुमक्कड़ी पर निकल पड़ते। बेटी जाई उनके साथ मलाबार, बिहार और उड़ीसा आई और पुत्र आनन्द 'बेटा-कुरुबा' तथा 'जेना-कुरुबा' जनजातियों के चेहरों को नापने के लिए कूर्ग आया।

एक बार इरावती पुणे की मुला-मुठा नदी के किनारे घण्टों तक पाषाण-युग के पुराने औजारों को खोजती रहीं। एक अन्य यात्रा के दौरान रात में रुकने का कोई स्थान नहीं मिलने पर वे ट्रक में ही सोईं।

मराठी में उनके लेख बेमिसाल हैं, जिनमें वे खुद को शामिल करती हैं मगर साथ ही तटस्थ भी रहती हैं। उनके लेखों में एक समाजशास्त्री की अन्तर्दृष्टि और साथ-साथ एक लेखक की नज़र भी है, जिससे दुर्लभ अन्तर्दृष्टि की चमक और 'संस्कृति' का सजीव चित्रण उभरकर आते हैं। उनका एक प्रसिद्ध निबन्ध पण्डरपुर की धार्मिक यात्रा के बारे में है। मराठी में 'वैयक्तिक निबन्धों' का सिलसिला पुनर्जीवित करने का श्रेय इरावती को जाता है।

इरावती ने वर्तमान और अतीत के बीच के रिश्ते की हमारी समझ को अधिक व्यापक बनाया है। एक बहु-सांस्कृतिक, बहु-भाषीय तथा बहुधार्मिक राज्य में राष्ट्र-निर्माण की समस्याओं तथा उसके महत्व से इरावती अच्छी तरह अवगत थीं। आज जब लाखों लोग बड़े बाँध परियोजनाओं के कारण बेघर हो रहे हैं, तब इरावती का कोयना बाँध सम्बन्धी सर्वेक्षण बहुत मायने रखता है। उन्होंने स्त्री के दृष्टिकोण से संवेदनशील लेखन किया, जैसे *महाभारत* ग्रन्थ में कुन्ती और द्रौपदी के मन की बात उभारना आदि। सगोत्रता और परिवार पर इरावती के पथप्रदर्शक सर्वेक्षणों ने भविष्य में अनेक क्षेत्रों में शोध की नींव रखी, विशेषकर नारीवादी अध्ययन के क्षेत्र में।



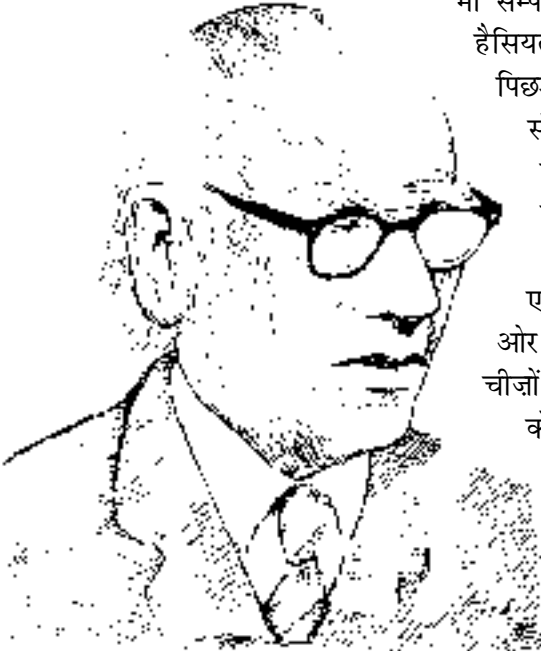
बी.पी. पाल

(1906 - 1989)

डॉ. बी.पी. पाल के नेतृत्व में ही भारत में गेहूँ पर कृषिवैज्ञानिक शोध दुनिया में सर्वश्रेष्ठ शोध के स्तर पर पहुँचा। सही मायने में वे भारत की हरित क्रान्ति के रचयिता थे।

– डॉ. नार्मन बोरलॉग (नोबल पुरस्कार विजेता)

बेंजामिन पियरी पाल एक प्रतिभाशाली आनुवंशिकी विज्ञानी और वनस्पति प्रजनक (plant breeder) तो थे ही, साथ में वे अद्भुत मानवीय गुणों से भी सम्पन्न थे। एक काबिल वैज्ञानिक की हैसियत से उन्होंने भारतीय कृषि के पिछड़ेपन को गहराई से समझा। प्राकृतिक सौन्दर्य और संगीत के प्रति उनमें एक गहरी संवेदना थी। पाल एक गर्मजोश और दयालु इन्सान थे और अपने साथियों के बहुत प्रिय थे। वे एक ओर गहन चिन्तक थे तो दूसरी ओर खूब मज़ाक भी करते थे। अनेक चीजों में उनकी रुचि थी। वे उच्च कोटि के चित्रकार थे तथा भारतीय और पश्चिमी दोनों प्रकार के शास्त्रीय



संगीत से उन्हें प्रेम था। इतनी अलग-अलग चीजों में गहरी रुचि रखने के कारण कुछ लोग उन्हें “भारतीय कृषि के होमी भाभा” मानते थे।



पाल का जन्म 26 मई 1906 को मुकन्दपुर, पंजाब में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा म्यांमार (तत्कालीन बर्मा) में हुई जहाँ उनके पिता चिकित्सा अधिकारी थे। म्यांमार में वे सेंट माइकल्स स्कूल में पढ़े और यहाँ उन्हें गुलाब के फूलों और चित्रकारी से प्रेम हुआ। स्कूल में गुलाब का एक खूबसूरत बाग था एवं उनके कई शिक्षकों की बागबानी और चित्रकारी में रुचि थी। पाल अपनी कक्षा में हमेशा प्रथम आते और एक बार इनाम में उन्हें एक पेंट-बॉक्स मिला। शायद इसी कारण उनमें सारी जिन्दगी के लिए चित्रकारी का जुनून पैदा हुआ।

1929 में उन्होंने एम.एससी. (वनस्पतिशास्त्र) में पूरे विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय में प्रथम स्थान प्राप्त करते हुए मैथ्यू हण्टर पदक जीता। इसके बाद वे केम्ब्रिज गए जहाँ उन्होंने 1933 में पीएच.डी. पूरी की। रोलेण्ड बिफिन और फ्रैंक एंग्लेडो के मार्गदर्शन में सम्पन्न उनका पीएच.डी. शोध-प्रबन्ध आज भी एक क्लासिक माना जाता है, जिसमें उन्होंने पहली बार गेहूँ की संकर प्रजातियों की सम्भावनाओं को उजागर किया। 1933 में ही उन्होंने बिहार स्थित पूसा में भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान (तत्कालीन इम्पीरियल एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टिट्यूट) में काम करना शुरू किया। 1937 में पदोन्नति के बाद वे वहीं इम्पीरियल इकोनॉमिक बॉटनिस्ट बने। 1936 के भूकम्प में पूसा इंस्टिट्यूट बुरी तरह ध्वस्त हो गया और उसे दिल्ली स्थानान्तरित कर दिया गया। तब पाल भी दिल्ली आ गए।

भारतीय कृषि के क्षेत्र में डॉ. पाल के महत्वपूर्ण योगदान को समझने के लिए हमें 1960 में



भारत में खाद्यान्नों की दयनीय स्थिति पर नज़र डालनी चाहिए। खाद्यान्नों की बेहद किल्लत के कारण सारी दुनिया भारत को भुखमरों का देश मानने लगी थी। उस दौरान हज़ारों-लाखों भारतीय अमरीका द्वारा पी.एल. 480 योजना के तहत दान दिए खाद्यान्नों की सहायता से ही अपना पेट भर पाए। पाल के नेतृत्व में शुरू हुई हरित क्रान्ति देश में एक अभूतपूर्व परिवर्तन लाई और धीरे-धीरे भारत भुखमरों के देश से एक खाद्यान्न बाहुल्य वाला देश बना।



पाल ने कृषि के जिन पाँच क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया वे हैं – अनुसन्धान, शिक्षा, कृषि-विस्तार, संस्था निर्माण और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग। इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने अथक मेहनत और लगन से काम किया और हरेक क्षेत्र में सफलता हासिल की।

अनुसन्धान के क्षेत्र में पाल का प्रमुख काम बहुरोगी कीट निरोधी गेहूँ की संकर प्रजातियों का विकास करना था। जैविक विविधता के सन्तुलित विकास द्वारा ही कृषि उत्पादन बढ़ेगा, यह बात पाल को स्पष्ट विदित थी। व्यवस्थित ढंग से नए जीन (gene) खोजने के लिए उन्होंने प्लांट इंद्रोडक्शन डिविजन (पादप परिचायन खण्ड) की स्थापना की। बाद में यही विभाग राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो (National Bureau of Plant Genetic Resources) बना। उन्होंने उच्च तकनीकों का उपयोग कर आलू, टमाटर और तम्बाकू की नई-नई प्रजातियाँ विकसित कीं। इसके लिए उन्होंने विभिन्न संस्थाओं में प्रतिभावान वैज्ञानिकों को खोजा और सक्रियतापूर्वक उन्हें साथ जोड़ा।

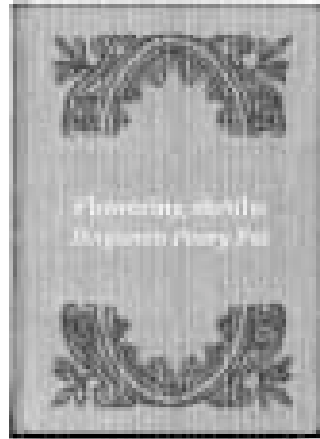
पाल को एहसास हुआ कि भारत जैसे विशाल और कृषि प्रधान देश को



भविष्य में उच्च कोटि के कृषि वैज्ञानिकों की एक बड़ी फौज की ज़रूरत होगी। भारतीय कृषि की तरक्की का एकमात्र तरीका यही था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान में उच्च शिक्षा के लिए एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय स्थापित किया। जल्द ही उसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालय का दर्जा प्रदान कर दिया। इस संस्था से निकले चार हजार से भी अधिक एम.एससी. और पीएच.डी. शोध छात्रों ने भारत की दसियों करोड़ जनता को भोजन उपलब्ध कराया और देश को खाद्यान्नों में आत्म-निर्भर बना दिया।

पाल व्यावहारिक अनुसन्धान के लिए उत्तम गुणवत्ता के बुनियादी शोध को ज़रूरी मानते थे। इसके लिए उन्होंने भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान में मूलभूत आनुवंशिकी स्कूल (School of Fundamental Genetics) की स्थापना की। उन्होंने व्यावहारिक अनुसन्धान की समस्याओं के निदान के लिए कई संस्थाओं के साथ बहु-विषयी शोधकार्य की शुरुआत की। भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान के निदेशक की हैसियत से उन्होंने अनुसन्धान, शिक्षा और विस्तार के काम को बहुत आगे बढ़ाया।

पाल ने 1965-72 के दौरान भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद के महानिदेशक के पद पर काम किया। इसी काल में किसानों को गेहूँ, धान, बाजरा और मक्का की ज़्यादा पैदावार देने वाली संकर प्रजातियों के बीज बड़े पैमाने पर उपलब्ध हुए। हरित-क्रान्ति को और आगे बढ़ावा देने के लिए पाल ने पशुपालन और मछली पालन के अनुसन्धान पर भी बल दिया। इस दौर में भारत ने विश्व की सर्वश्रेष्ठ अनुसन्धान संस्थाओं से हाथ मिलाया और उनके साथ मिलकर शोध कार्य किया – मेक्सिको की संस्थाओं के साथ गेहूँ पर और फिलिपीन्स की संस्थाओं के साथ धान पर। पाल के प्रयासों से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर कृषि की प्रतिष्ठा फैली।



व्यावहारिक शोधकर्ताओं के लिए पाल का मंत्र था – “समस्याएँ खेत में सुलझाओ!” उनका दूसरा आदर्श वाक्य था, “प्रयोगशाला से खेत तक!” जिसे कार्यान्वित करने के लिए पाल ने अथक परिश्रम किया। उनका मानना था कि कृषि क्षेत्र में किसी भी नवाचार का अन्तिम मूल्यांकन अन्ततः किसान ही कर सकता है। कृषि के छात्र भारतीय समाज की जटिलताओं को अच्छी प्रकार समझ सकें, इसके लिए पाल ने भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद और भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान दोनों के ही पाठ्यक्रमों में सामाजिक विज्ञान से जुड़े अनेक विषय भी शामिल किए। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद का यह मॉडल इतना सफल हुआ कि उसे पाकिस्तान, बांग्लादेश, फिलिपीन्स और नाईजीरिया जैसे कई विकासशील देशों ने सहर्ष अपनाया।

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद से सेवानिवृत्ति के बाद पाल ने अपनी सारी ऊर्जा पर्यावरण संरक्षण के काम में लगाई तथा वे राष्ट्रीय पर्यावरण संरक्षण एवं संयोजन समिति के पहले अध्यक्ष बने। पाल उच्च कोटि के गुलाब प्रजनक (rose breeder) थे और उन्होंने गुलाब की कई नई प्रजातियों का आविष्कार किया। वे रोज़ सोसाइटी (Rose Society) और बोगनवेलिया सोसाइटी (Bougainvillea Society) के भी अध्यक्ष थे। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एम.एस. रन्धावा के साथ मिलकर उन्होंने चण्डीगढ़ में रोज़ गार्डन (Rose Garden) स्थापित किया। उनका घर लोगों के लिए सदैव खुला रहता था और वे अनेक युवा एवं प्रौढ़ शोधकर्ताओं के मित्र, मार्गदर्शक व मददगार थे।

पाल ने इण्डियन सोसाइटी ऑफ जेनेटिक्स एंड प्लांट ब्रीडिंग (Indian Society of Genetics and Plant Breeding) की स्थापना की और *इण्डियन जर्नल ऑफ जेनेटिक्स एंड प्लांट ब्रीडिंग (Indian Journal of Genetics and Plant Breeding)* का 25 वर्ष तक सम्पादन किया। फूलों के प्रति अपने प्रेम के प्रसार के लिए उन्होंने ढेरों लोकप्रिय पुस्तकें लिखीं, जिनमें *द रोज़ इन इण्डिया (The Rose in India)*, *ब्यूटिफुल क्लाइम्बर्स ऑफ इण्डिया (Beautiful Climbers of India)*, *फ्लावरिंग श्रब्स (Flowering*

Shrubs) और एंवायरनमेंटल कंज़रवेशन एंड डेवलपमेंट (*Environmental Conservation and Development*) उल्लेखनीय हैं।

वे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय शोध संस्थाओं के न्यासी थे और उन्होंने बहुत से विकासशील देशों में कृषि अनुसन्धान को सही दिशा प्रदान की। वैज्ञानिक समुदाय में उनका रुतबा इतना बुलन्द था कि उन्हें रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो चुना गया। इसके अलावा उन्हें फ़्रांस, जापान तथा तत्कालीन सोवियत संघ की विज्ञान अकादमियों और थर्ड वर्ल्ड एकेडमी ऑफ साइंसेज़ (Third World Academy of Sciences) का भी सदस्य चुना गया। 1987 में भारत सरकार ने उन्हें पद्म विभूषण से सम्मानित किया। 2007 में भारतीय डाक विभाग ने उनके सम्मान में उनके प्रिय गुलाब के फूलों के साथ उनका एक डाक टिकट जारी किया।

पाल गहरे मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत कोमल स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने गुलाब की जो नई प्रजातियाँ विकसित कीं उनके नाम सी.वी. रामन और होमी भाभा जैसे प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के नाम पर रखे। उन्हें भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान से गहरा लगाव था और अन्त में वे अपनी पूरी सम्पत्ति, समस्त लेख, गुलाबों का संग्रह और दिल्ली एवं शिमला के मकान, सभी कुछ इसी संस्था को दान कर गए। उनका देहान्त 1989 में हुआ।





प्रोफेसर दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी क्रान्तिकारी चेतना से लैस बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे उन गिने-चुने भारतीयों में से थे जिन्होंने 20वीं सदी के विज्ञान और प्रौद्योगिकी के स्वभाव और उसके मानव जाति पर होने वाले प्रभाव को समझा था। प्रचार और प्रसिद्धि के पथ को नकारते हुए उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के कई क्षेत्रों में अद्वितीय योगदान किया जिनमें गणित,

सांख्यिकी, मुद्राशास्त्र, भारतविद्या (Indology),

इतिहास और समकालीन सामाजिक समस्याएँ भी शामिल थीं। उन्होंने आण्विक हथियारों की खिलाफत की और विश्व शान्ति आन्दोलनों के लिए काम किया।

उनके कार्य का पटल बहुत विशाल था। पेशे से एक गणितज्ञ होने के बावजूद उन्होंने व्यावसायिक इतिहासकारों को भारतीय इतिहास को देखने के मौलिक नजरिए सिखाए। लघु और लम्ब-पाषाणों तथा शिलास्तम्भों के उनके संग्रह से

पुरातत्व-विज्ञान का महत्वपूर्ण विकास हुआ। उन्होंने प्राचीन काल के अनेक व्यापार मार्ग खोजे। वे कारला गुफाओं में



ब्राह्मी में लिखे शिलालेख पढ़ने वाले पहले व्यक्ति थे। कोसाम्बी ने व्यावहारिक समस्याओं को चुनकर उनका समाधान करने के लिए सांख्यिकी सीखी। उन्होंने सात हजार से भी अधिक आहत (punch-marked) सिक्कों को एक रासायनिक तराजू में बारीकी से तौला। सिक्कों पर उनके इस श्रमसाध्य शोध से मुद्राशास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय का दर्जा प्राप्त हुआ। उन्होंने गुणसूत्रों के बीच की दूरी ज्ञात करने का एक सूत्र रचा जो आज शास्त्रीय आनुवंशिकी (classical genetics) का एक स्तम्भ है। हर विषय की बारीकी से जाँच-पड़ताल, गहन अध्ययन और विषय पर आधिकारिक पकड़ के साथ-साथ द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति द्वारा उन्होंने अनेक बुनियादी प्रश्न खड़े किए और अनेक सवालों के मौलिक उत्तर भी सुझाए।



1956 में उनकी पुस्तक *एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री (An Introduction to the Study of Indian History)* प्रकाशित हुई। छपने के पाँच साल के भीतर ही यह पुस्तक विश्व भर के इतिहास के छात्रों व प्राध्यापकों के लिए अनिवार्य समझी जाने लगी। उसके बाद उनकी दो अन्य पुस्तकें, *मिथ एंड रियलिटी (Myth and Reality)* (1962) तथा *द कल्चर एंड सिविलाइजेशन ऑफ एंशेंट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन (The Culture and Civilisation of Ancient India - historical outline)* (1965) छपी। इन सभी पुस्तकों का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। कोसाम्बी ने भर्तृहरि के काव्य तथा संस्कृत के सबसे पुराने संग्रह



सुभाषितरत्नकोष को सम्पादित किया। भारतीय ग्रन्थों की समालोचना के इतिहास में आज भी उनके इस कार्य को बहुमूल्य समझा जाता है।

कोसाम्बी ने न केवल भारतीय इतिहास के अध्ययन में बल्कि उसकी पद्धति के विकास में भी अनुठा योगदान दिया। वे यह नहीं मानते थे कि इतिहास सिर्फ मृत अतीत के बारे में होता है। उनके अनुसार इतिहास वर्तमान में भी जीता है। इसलिए इतिहास का अध्ययन करते हुए कोसाम्बी ने इस पर भी गौर किया कि आज लोग कैसे जीते हैं – वे क्या चीजें इस्तेमाल करते हैं, उनके रीति-रिवाज क्या हैं, वे क्या खाते हैं और कौन-से गीत गाते हैं? इन सब बातों के माध्यम से कोसाम्बी ने अतीत और वर्तमान के बीच एक निरन्तरता स्थापित की।



1990 के दशक की शुरुआत में कोसाम्बी के भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण पर आधारित एक टेलिविज़न धारावाहिक बना – “इण्डिया इन्वेंटेड” (India Invented)। जाने-माने कार्यकर्ता एवं समाजशास्त्री अरविन्द नारायण दास ने इसका निर्माण किया। इस अद्वितीय धारावाहिक के सभी भाग अब इंटरनेट पर गूगल विडियो पर निःशुल्क उपलब्ध हैं।

दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी का जन्म 31 जुलाई 1907 को हुआ। उनके प्रारम्भिक साल कोंकणी भाषा में बात करते हुए गोवा में बीते। उनके पिता आचार्य धर्मानन्द कोसाम्बी बुद्ध धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान थे और पुणे स्थित फरग्यूसन कॉलेज में पाली भाषा पढ़ाते थे। इसलिए दामोदर की प्रारम्भिक शिक्षा पुणे में ही हुई। आचार्य धर्मानन्द हार्वर्ड विश्वविद्यालय में विज़िटिंग प्रोफेसर थे, जहाँ वे पाली में लिखित बौद्ध ग्रन्थों पर शोधकार्य करते थे। 1918 में अपनी दूसरी हार्वर्ड यात्रा के दौरान आचार्य धर्मानन्द अपनी 19 वर्षीय बेटे माणिक और 11 वर्षीय बेटे दामोदर को भी अपने साथ अमरीका ले गए। तब तक दामोदर को सब लोग ‘बाबा’ नाम से जानने लगे थे। पहले वे केम्ब्रिज ग्रामर स्कूल में और उसके बाद केम्ब्रिज लैटिन स्कूल में पढ़े। चार साल बाद आचार्य कोसाम्बी भारत आए परन्तु बाबा अपनी

स्कूली पढ़ाई पूरी करने के लिए अमरीका में ही रुके। इसके बाद वे भारत आए और उन्होंने यहाँ के महाविद्यालय में दाखिला लेने की कोशिश की। परन्तु दोनों देशों में भिन्न शिक्षा प्रणालियाँ होने के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया। इसलिए 1926 में बाबा अमरीका वापस गए और उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दाखिला लिया।

दामोदर अपने शरीर को चुस्त रखने के लिए नियमित रूप से वर्जिश और तैराकी करते; साथ ही वे नाव चलाते और पर्वतारोहण भी करते। पढ़ाई में उन्हें बहुत अच्छे अंक मिलते। परन्तु एक सेमेस्टर में उन्हें तीन 'ए' और एक 'बी' ग्रेड मिला। इससे उनके पिता नाराज़ हुए। इस चुनौती को स्वीकार करते हुए बाबा ने गर्मियों की छुट्टियों में इतालवी भाषा का एक कोर्स किया। इस भाषा का उन्हें पहले बिलकुल भी ज्ञान न था। इस कोर्स में उन्हें उनके टीचर ने 'ए+' ग्रेड दिया। साथ में टिप्पणी भी लिखी कि उन्होंने अपने जीवन में पहली बार किसी को यह ग्रेड दिया है। इस टिप्पणी को बाबा ने अपने पिता को भेजा। हार्वर्ड में बाबा के कमरे में अनेक विषयों की पुस्तकें भरी रहती थीं। उनके कमरे में गाँधीजी की एक तस्वीर भी लटकी रहती थी।

कोसाम्बी ने गणित की उच्च शिक्षा के साथ-साथ कई यूरोपीय भाषाएँ – ग्रीक, लैटिन, फ्रांसीसी और जर्मन भी सीखीं। उन्होंने संस्कृत, ब्राह्मी और प्राकृत भी सीखी। अमरीका के समृद्ध पुस्तकालयों में वे ज्ञान के सभी पहलुओं से परिचित हुए। खगोलशास्त्र से लेकर भौतिक विज्ञानों तक एवं मानव मस्तिष्क की गहराइयाँ नापने से लेकर मनुष्यों का साझा अतीत खोद निकालने तक, तमाम विषयों में उनकी रुचि जागृत हुई। अपनी बौद्धिक क्षमताओं और ऊर्जा के लिहाज़ से कोसाम्बी इनमें से किसी भी एक क्षेत्र में उत्तम अनुसन्धान कर खुद को स्थापित कर सकते थे। परन्तु उन्होंने गणित को ही चुना क्योंकि गणित का जादू उनका मन मोह चुका था। गणित के नतीजों में स्पष्टता होती है और इससे उन्हें बौद्धिक रूप से सन्तुष्टि मिलती थी।

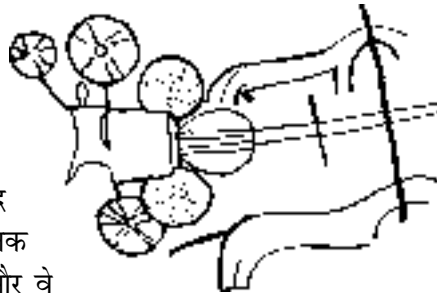


1929 में कोसाम्बी ने उच्च श्रेणी में हार्वर्ड से अपनी शिक्षा पूर्ण की। उस दौर की आर्थिक मन्दी के कारण शिक्षा में वजीफा मिलना बहुत कठिन था, इसलिए वे भारत वापस लौट आए। उसके बाद वे सारी जिन्दगी भारत में अपनी सांस्कृतिक जड़ों के करीब ही रहे।

कोसाम्बी ने जीवन भर गणित पढ़ाया। 1929-31 के दौरान उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। यहाँ उन्होंने गणित के साथ-साथ जर्मन भाषा भी पढ़ाई। जर्मन को कोसाम्बी विज्ञान की भाषा मानते थे। कुछ समय उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में भी पढ़ाया। 1933 में उन्होंने पुणे स्थित फरग्यूसन कॉलेज में अध्यापन शुरू किया। यहाँ उनकी गिनती कड़े और दुरूह शिक्षक के रूप में होने लगी। वे उन छात्रों में लोकप्रिय नहीं थे जो परिश्रम करना पसन्द नहीं करते थे। मगर प्रतिभावान व गम्भीर छात्र उनकी बहुत प्रशंसा करते थे। 14 साल गणित पढ़ाने के बाद कोसाम्बी ने महाविद्यालय के अधिकारियों के साथ गम्भीर मतभेदों के कारण फरग्यूसन कॉलेज छोड़ दिया। वे परीक्षा आधारित शिक्षा प्रणाली और उसके अप्रेरक मानकों से बहुत दुखी थे।

1946 में उन्हें होमी भाभा ने बम्बई में नवनिर्मित टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडमेंटल रिसर्च (Tata Institute of Fundamental Research) में काम करने के लिए आमंत्रित किया। भाभा और कोसाम्बी दोनों के व्यक्तित्व में भिन्नता होने के कारण उनके बीच मधुर सम्बन्ध कुछ ही सालों में खत्म हो गया। भाभा शोध से दूर चले गए; वे एक संस्था स्थापन के कार्य में लग गए और इस तरह एक विज्ञान प्रबन्धक बन गए। दोनों के बीच वैचारिक मतभेद भी थे: भाभा आण्विक-ऊर्जा को प्रोत्साहित कर रहे थे, जबकि कोसाम्बी पूर्णतः सौर-ऊर्जा के पक्षधर थे।

1962 में टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडमेंटल रिसर्च में उनके अनुबन्ध का नवीनीकरण नहीं किया गया। 1964 में टाटा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक परिषद ने उन्हें अवकाश-प्राप्त वैज्ञानिक की हैसियत से नियुक्त किया और वे





पुणे की महाराष्ट्र एसोसिएशन फॉर कल्चिवेशन ऑफ साइंस (Maharashtra Association for Cultivation of Science) के साथ जुड़ गए।

मेजर जनरल इनायत हबीबुल्ला पुणे के पास खडकवासला में स्थित राष्ट्रीय सुरक्षा अकादमी (National Defence Academy) के पहले कमांडेंट थे। हबीबुल्ला खुद एक शौकिया पुरातत्व वैज्ञानिक थे। उन्होंने कोसाम्बी को अकादमी में एक पुरातत्व सोसाइटी (Archaeological Society) स्थापित करने के लिए आमंत्रित किया। यहाँ पर कोसाम्बी ने जिज्ञासु छात्रों और शिक्षकों को लघु और लम्ब-पाषाणों, शिलाकाटों और अन्य प्राचीन अवशेषों को खोजने के लिए प्रेरित किया।

1931 में कोसाम्बी का विवाह नलिनी मडगाँवकर से हुआ। उनकी बड़ी बेटी माया की कैंसर से आकस्मिक मृत्यु हो गई। उनकी छोटी बेटी मीरा पुणे की एक विख्यात समाज विज्ञानी हैं।

1949 में कोसाम्बी को पथ-ज्यामिति (path-geometry) सिखाने के लिए अतिथि प्राध्यापक के रूप में शिकागो आमंत्रित किया गया। बाद में उन्हें प्रिंसटन स्थित इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज (Institute of Advanced Studies) में आमंत्रित किया गया जहाँ उनकी आइंस्टाइन से लम्बी चर्चाएँ हुईं।



कोसाम्बी विश्व शान्ति आन्दोलन के सक्रिय सदस्य थे। उन्हें पंचशील का चिह्न बहुत पसन्द था। उन्होंने आग्रह कर इस चिह्न को अपनी पुस्तक इग्जैस्पेरिंग एसेज (Exasperating Essays) में छपवाया।

कोसाम्बी का द्वन्द्वात्मक पद्धति में विश्वास था मगर वे परम्परागत कम्यूनिस्ट पार्टियों की आलोचना करते थे जिन्हें वे आधिकारिक मार्क्सवादी (ऑफिशियल



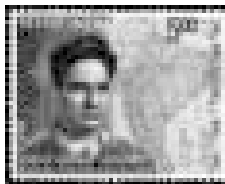
2007 में कोसाम्बी शताब्दी समारोह के दौरान मीरा कोसाम्बी को उनके पिता का तैलचित्र भेंट किया गया।

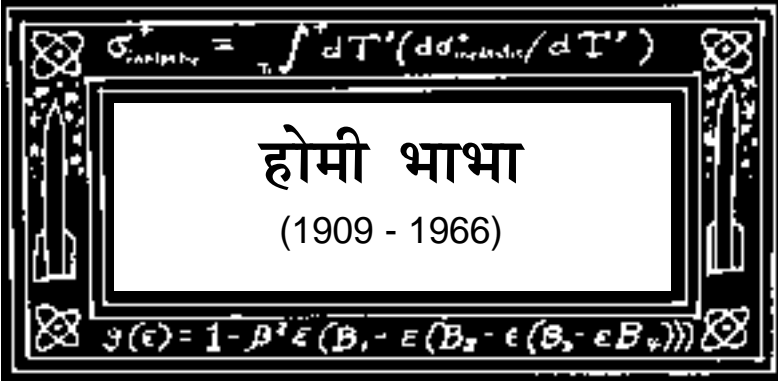
मार्क्सिस्ट) कहते थे। आण्विक ऊर्जा के खिलाफ होने के कारण भाभा और उनमें बिलकुल नहीं बनी। जब जवाहरलाल नेहरू की पुस्तक *डिस्कवरी ऑफ इण्डिया (भारत की खोज)* प्रकाशित हुई तो कोसाम्बी ने उसकी अत्यन्त कठोर समीक्षा लिखी और भारतीय इतिहास को लेकर नेहरू की छिछली समझ को बेनकाब किया। अपने स्वतंत्र विचारों के कारण सरकार और वामपन्थी पार्टियाँ दोनों ने कोसाम्बी को दरकिनार कर दिया। कोसाम्बी ने 1934 में 26 वर्ष की आयु में पहला रामानुजन मेमोरियल

पुरस्कार जीता और 1947 में उन्हें भाभा पुरस्कार मिला। यह भारतीय राज्य की असवेदना का द्योतक है कि उसने देश के सर्वोच्च कोटि के इस बुद्धिजीवी को उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप कोई भी राजकीय सम्मान नहीं दिया।

2007 में कोसाम्बी की जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में पुणे में प्रमुख बुद्धिजीवियों के व्याख्यानों की शृंखला का आयोजन किया गया। भारत सरकार ने काफी विलम्ब के बाद कोसाम्बी की याद में डाक टिकट जारी किया और पुणे विश्वविद्यालय में 'कोसाम्बी चेयर' की स्थापना के लिए एक करोड़ रुपए का अनुदान भी दिया।

मात्र 58 साल की अल्पायु में 29 जून 1966 को इस विलक्षण प्रतिभा का देहान्त हुआ। परन्तु शताब्दियों बाद भी लोग कोसाम्बी के बहुमुखी बौद्धिक योगदान को याद करेंगे।





होमी भाभा ने कहा था, “विश्व में अग्रणी भूमिका निभाने की आकांक्षा रखने वाला कोई भी देश बुनियादी या दीर्घकालीन वैज्ञानिक शोधकार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता।” भाभा ने अकेले ही भारतीय परमाणु ऊर्जा की बुनियाद रखी और देश के अन्तरिक्ष और इलेक्ट्रॉनिकी कार्यक्रमों का पोषण किया। उन्होंने प्रतिभासम्पन्न लोगों के इर्द-गिर्द उच्च-कोटि की संस्थाएँ

स्थापित कीं। एक दूरदर्शी व्यक्ति होने के नाते उन्होंने भविष्य में काम आने वाली अनेक संस्थाएँ स्थापित कीं, जैसे टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान (Tata Institute of Fundamental Research/ TIFR), भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र (Bhabha Atomic Research Centre/ BARC) और भारतीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संगठन (Indian Space Research Organisation/ ISRO)।





भौतिक विज्ञानी एल्बर्ट आइंस्टाइन, हिदेकी युकावा, जॉन व्हीलर और होमी भाभा

होमी जहाँगीर भाभा का जन्म 30 अक्टूबर 1909 को बम्बई में एक प्रतिष्ठित पारसी परिवार में हुआ। टाटा से उनकी रिश्तेदारी थी। जिस घर में वे पैदा हुए वहीं आगे चलकर भारत के आण्विक कार्यक्रम की शुरुआत हुई। होमी की प्रारम्भिक शिक्षा बम्बई के कैथेड्रल और जॉन कॉनन स्कूलों में हुई। वे पढ़ाई में प्रवीण और पुस्तकों के बेहद शौकीन थे। पिता के विशाल पुस्तकालय ने उनके दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में मदद की। चित्रकला और पाश्चात्य संगीत में भी होमी की गहरी रुचि थी।

सीनियर केम्ब्रिज की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने कुछ वर्ष बम्बई के रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस में पढ़ाई की। उसके बाद वे उच्च शिक्षा के लिए केम्ब्रिज चले गए। उनके पिता चाहते थे कि वे इंजीनियर बनें और टाटा समूह में किसी उच्च ओहदे पर काम करें। परन्तु होमी की रुचि केवल भौतिक विज्ञान के अध्ययन में थी। उन दिनों भौतिक विज्ञान में एक नई क्रान्ति की लहर आ रही थी और केम्ब्रिज उसका केन्द्र था।

होमी के उदार पिता ने उन्हें यांत्रिकी विज्ञान की प्रावीण्य परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद गणित विषय की प्रावीण्य परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी। 1932 में युवा भाभा ने राउज़-बॉल ट्रैवलिंग फ़ैलोशिप जीती जिसके कारण

वे ज्यूरिख में वॉल्फगैंग पाओली और रोम में एनरिको फर्मी के साथ काम कर पाए। उसके पश्चात् आईज़ैक न्यूटन छात्रवृत्ति मिलने से वे कुछ समय कोपेनहैगन स्थित नील्स बोहर इंस्टिट्यूट में भी बिता सके। इस बीच भाभा ने प्रोफेसर आर.एच. फाउलर के मार्गदर्शन में अपनी पीएच.डी. पूरी की। प्रख्यात खगोलशास्त्री और नोबल पुरस्कार विजेता एस. चन्द्रशेखर के मार्गदर्शक भी फाउलर ही थे।

केम्ब्रिज के दिन भाभा के लिए रोमांचक थे। यहाँ उन्होंने इलेक्ट्रॉन-पॉज़िट्रॉन प्रकीर्णन (electron-positron scattering) की खोज की जो आज भाभा-प्रकीर्णन (Bhabha scattering) के नाम से जानी जाती है। वॉल्टर हाइटलर के साथ मिलकर उन्होंने 'कास्केड सिद्धान्त' (cascade theory) का प्रतिपादन किया, यानि अन्तरिक्षीय किरणों की बौछार की व्याख्या की। इन योगदानों के बाद भाभा की प्रसिद्धि युवा और निपुण भौतिक विज्ञानी के रूप में फैल गई।

1939 में भाभा कुछ दिनों की छुट्टी पर स्वदेश लौटे। उसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। युद्ध के कारण यूरोप में वैज्ञानिक शोधकार्य के लिए अनुदान बहुत कम हो गए। शायद इसमें कुछ अच्छाई छिपी थी, क्योंकि इस वजह से भाभा को भारत में ही कोई नौकरी ढूँढनी पड़ी। उनकी ख्याति के कारण भाभा को भारतीय विज्ञान संस्थान, बँगलोर (Indian Institute of Science) में नौकरी मिल गई। यहाँ उन्होंने सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट के एक अनुदान की सहायता से अन्तरिक्षीय किरणों पर अपना शोध कार्य आरम्भ किया।



बैंगलोर में भाभा के सैद्धान्तिक कार्य ने दो भार-अवस्थाओं वाले एक कण के लिए एक समीकरण की रचना की जो अब 'भाभा समीकरण' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं दिनों भाभा ने हरीश चन्द्र के साथ मिलकर भी काम किया जो बाद में उच्च कोटि के गणितज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हुए। ऊँचाई पर अन्तरिक्षीय किरणों के व्यवहार के अध्ययन के लिए भाभा ने गार्डगर काउंटर टेलिस्कोप (Geiger Counter Telescope) बनाए और उन्हें भारतीय वायुसेना के हवाई जहाजों में उड़ाया।

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद भाभा फिर एक दोराहे पर आ खड़े हुए। वे वापस यूरोप जाएँ जहाँ वैज्ञानिक शोध की अपार सम्भावनाएँ थीं या फिर भारत में रहकर कार्य करें? उन्होंने अपने मित्र जे.आर.डी. टाटा से इसके बारे में राय माँगते हुए कहा, “हमारा कर्तव्य है कि हम अपने देश में रहें और अन्य देशों को जिन संस्थाओं पर नाज़ है उस स्तर की संस्थाएँ अपने देश में स्थापित करें।”

भाभा का विश्वास था कि ये 'उत्कृष्टता के केन्द्र' देश में परमाणु ऊर्जा के विकास के लिए वैज्ञानिक उपलब्ध कराएँगे और भविष्य में भारत को इस क्षेत्र में विदेशी विशेषज्ञों का मुँह नहीं ताकना पड़ेगा। मात्र एक लाख रुपए के अनुदान से भाभा ने 1 जून 1945 को टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान (Tata Institute of Fundamental Research) की स्थापना की। संस्था की शुरुआत बैंगलोर में हुई परन्तु चन्द महीनों के बाद ही संस्था बम्बई स्थानान्तरित कर दी गई और वह भी उसी बंगले में जहाँ भाभा का जन्म हुआ था।

देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और भाभा दोनों का सपना भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में स्वदेशी क्षमताओं के निर्माण और उनका विकास करना था। नेहरू ने देश में वैज्ञानिक संस्थाओं का ताना-बाना स्थापित करने

युवाकाल में भाभा ने अपने पिता से कहा,
“कौन कहता है कि हम भारत में विज्ञान का
कार्य नहीं कर सकते?” उन्होंने न केवल उच्च
कोटि का अनुसन्धान किया बल्कि ऐसी बेहतरीन
संस्थाएँ निर्मित कीं जिनमें हजारों भारतीय उच्च
स्तर का शोध कर सकें।

के लिए भाभा को राजनैतिक छत्रछाया, साधन और खुली छूट प्रदान की। शुरुआत में टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान में अन्तरिक्षीय किरणों और गणित पर केन्द्रित शोधकार्य प्रारम्भ हुआ। मगर धीरे-धीरे क्षेत्र फैलता गया। भाभा में प्रतिभाओं को पहचानने की अद्भुत क्षमता थी और वे सबसे योग्य एवं प्रखर वैज्ञानिकों को आकर्षित कर पाए। भाभा ने ऐसे वैज्ञानिकों के इर्द-गिर्द नए विभाग शुरू किए जो सक्षम नेतृत्व प्रदान कर सकें। उदाहरण के लिए, उन्होंने केम्ब्रिज से ओबेद सिद्दीकी को आण्विक जीव विज्ञान (molecular biology) समूह और स्टैनफोर्ड से गोविन्द स्वरूप को रेडियो दूरबीन के निर्माण के लिए आमंत्रित किया।



स्वतंत्रता के बाद नेहरू ने देश के परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम की बागडोर भाभा के हाथों में सौंपी। भाभा और नेहरू की अन्तरंग मित्रता एवं भाभा के अपार उत्साह और ऊर्जा ने लालफीताशाही पर लगाम कसी और फिर गाड़ी तेजी से आगे बढ़ी। टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान और भारतीय परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम कुछ ही सालों में फलने-फूलने लगे।

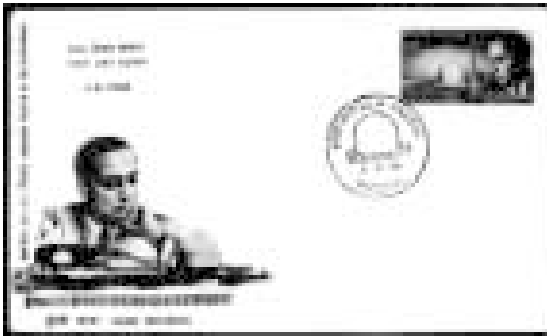
भाभा की उपलब्धियों के कारण उन पर पुरस्कारों की वर्षा होने लगी। 1941 में उन्हें रॉयल सोसाइटी की फ़ैलोशिप प्रदान की गई। 1948 में उन्हें हॉपकिन्स पुरस्कार मिला और 1954 में भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण से सम्मानित किया। अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की उपाधियों से भी सुशोभित किया। भारत में परमाणु ऊर्जा के पितामह के रूप में उन्हें सदैव याद रखा जाएगा।

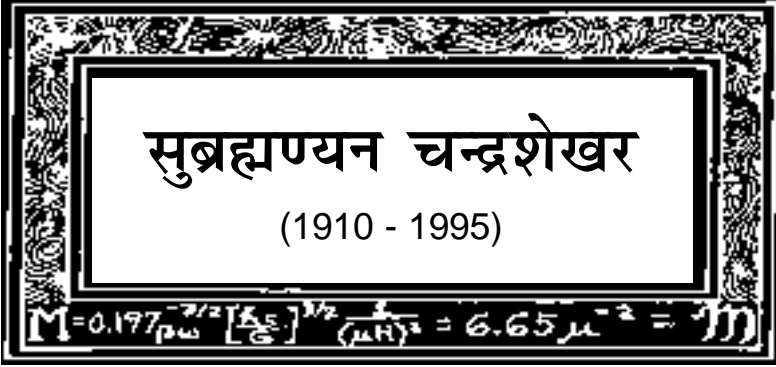
वैसे तो भाभा एक सैद्धान्तिक भौतिक विज्ञानी थे मगर उनका तकनीकी ज्ञान भी काफी अच्छा था। उन्होंने भारत के अन्तरिक्ष कार्यक्रम की नींव रखी जिसे बाद में विक्रम साराभाई और सतीश धवन ने बहुत कुशलता से विकसित किया। 1962 के चीनी आक्रमण के बाद भाभा ने इलेक्ट्रॉनिक्स में भारत के पिछड़ेपन को पहचाना। इस क्षेत्र में भारत की तेज़ प्रगति के लिए इसकी रूपरेखा भी भाभा ने तैयार की।

भाभा बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे। वे गणित की जटिलताओं और शास्त्रीय संगीत की बारीकियों को समान रूप से समझते थे। वे एक कलाकार थे और वे जीवन की सभी सुन्दर चीजों के पारखी थे – कला, संगीत, साहित्य, वास्तुशिल्प, बागबानी आदि। अपने बहुमुखी व्यक्तित्व के कारण अक्सर उनकी तुलना लियोनार्दो द विंची से की जाती थी। टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान का भवन बन जाने के बाद भाभा ने प्रसिद्ध चित्रकार मकबूल फिदा हुसेन को एक भित्तिचित्र बनाने के लिए आमंत्रित किया, जिसके लिए उस समय उन्हें 15,000 रुपए का भारी पारिश्रमिक दिया गया। बहुत कम लोग इस बात से अवगत हैं कि टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान के बजट का एक प्रतिशत कलाकृतियाँ खरीदने के लिए सुनिश्चित किया गया था। भाभा के खुद के बनाए चित्र अब भी टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान और भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र की इमारतों को सुशोभित कर रहे हैं।

भाभा विज्ञान और कला दोनों की दुनिया के बादशाह थे। अपनी अनेक ज़िम्मेदारियों के कारण उन्होंने कभी शादी नहीं की। एक बार जब एक संवाददाता ने उनसे इस विषय में पूछा तो उन्होंने जवाब दिया, “मैंने सृजनशीलता के साथ ब्याह रचाया है।”

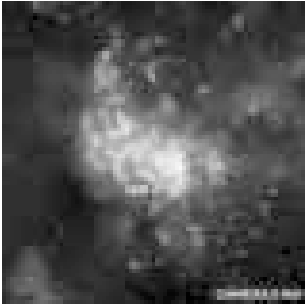
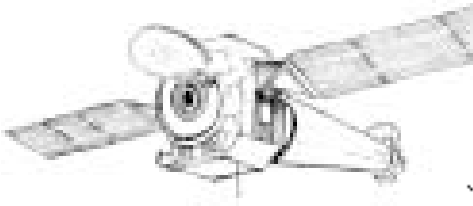
जब भाभा अपने कैरियर के शीर्ष पर थे, मॉंट ब्लैंक, फ्रांस में 24 जनवरी 1966 को एक हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। हवाई जहाज़ के सारे मुसाफिर मारे गए जिससे पूरा देश शोक में डूब गया।





बीसवीं शताब्दी में ऐसे अनेक वैज्ञानिक हुए जिनके शोध से प्रकृति के बारे में हमारी समझ में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। भारतीय मूल के वैज्ञानिक सुब्रह्मण्यन चन्द्रशेखर उनमें से एक थे। भौतिकी, खगोलशास्त्र और गणित के क्षेत्रों में उनके योगदान बेमिसाल हैं।

चन्द्रशेखर का जन्म 19 अक्टूबर 1910 को लाहौर में हुआ। उनके पिता सी. सुब्रह्मण्यन अय्यर विज्ञान के क्षेत्र में नोबल पुरस्कार पाने वाले सी.वी. रामन





व्यंगचित्र - गोपी गिजवानी
(साभार: आय.यू.सी.ए.ए. पुस्तकालय)

के भाई थे। श्री अय्यर रेलवे के लेखा विभाग में महालेखाकार थे। संगीत में उनकी गहरी रुचि थी। 11 वर्ष की आयु तक चन्द्रशेखर की पढ़ाई घर में ही हुई। उसके बाद वे मद्रास के हिन्दू हाई स्कूल में दाखिल हुए। फिर प्रेसिडेंसी कॉलेज, मद्रास से उन्होंने भौतिक विज्ञान में बी.ए. किया। शुरू से ही वे प्रतिभावान छात्र थे और ऐसा लगता था कि बड़े होकर कोई महान कार्य करेंगे। 18 साल की कम उम्र में उन्होंने पहला वैज्ञानिक शोधपत्र लिखा - “काम्पटन स्कैटरिंग एंड द न्यू

स्टैटिस्टिक्स” (Compton Scattering and the new Statistics)। यह प्रोसीडिंग्स ऑफ द रॉयल सोसाइटी (Proceedings of the Royal Society) में छपा। स्नातक की उपाधि प्राप्त करने से पहले ही *फिलोसॉफिकल मैगजीन* (Philosophical Magazine) में उनके दो अन्य शोधपत्र छप चुके थे। अपनी प्रखर बुद्धि के कारण चन्द्रशेखर को केम्ब्रिज में शोधकार्य करने के लिए भारत सरकार का एक वजीफा मिला।

पानी के जहाज़ से इंग्लैण्ड जाते हुए चन्द्रशेखर ने एक खगोलशास्त्रीय समस्या पर गहरा चिन्तन-मनन किया। किसी भी तारे (हमारा सूर्य भी एक तारा है) का अन्त किस प्रकार होता है? सालों के विस्तृत शोध के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे कि जो भी तारे सूर्य के भार से 1.44 गुना छोटे होते हैं वे अन्ततः श्वेत वामन (white dwarf) में परिवर्तित होकर खत्म हो जाते हैं। 1.44 गुना की सीमा अब खगोलशास्त्र में चन्द्रशेखर सीमा (Chandrashekhhar Limit) के नाम से मशहूर है।

1930-36 के बीच चन्द्रशेखर केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रॉल्फ

एच. फाउलर के मार्गदर्शन में इसी समस्या पर शोधकार्य करते रहे। 1933 में उन्होंने अपनी पीएच.डी. समाप्त की और उसके बाद वे ट्रिनिटी कॉलेज के फैलो चुने गए। 1935 में रॉयल एस्ट्रोनॉमिकल सोसाइटी ने उन्हें अपने शोधकार्य के परिणामों की चर्चा के लिए आमंत्रित किया। वहाँ वे एक बड़ी मुसीबत में फँस गए। विश्वविख्यात खगोलशास्त्री आर्थर एडिंगटन ने चन्द्रशेखर के शोध पर न केवल तीखी टिप्पणी की बल्कि उसका मज़ाक भी उड़ाया। चन्द्रशेखर को इसकी उम्मीद न थी। उन्हें धक्का तो लगा परन्तु उन्होंने अपने शोध की पुष्टि में जोरदार प्रमाण रखे। उसके कुछ सालों बाद प्रत्यक्ष अवलोकनों ने चन्द्रशेखर के परिणामों की पुष्टि कर दी। एडिंगटन की जड़-बुद्धि के कारण खगोलशास्त्र का विकास लगभग दो दशकों के लिए थम गया!

जुलाई 1936 में चन्द्रशेखर ने पड़ोस में रहने वाली ललिता से शादी की। यह शादी उनके परिवारजनों ने तय नहीं की थी। ललिता स्नातक थीं और एक स्कूल में प्रधानाध्यापिका थीं।

1937 में चन्द्रशेखर ने शिकागो विश्वविद्यालय में अध्यापन शुरू किया और उन्हें येर्क्स प्रयोगशाला (Yerks Laboratory) में भेजा गया। 1944 में वे प्रोफेसर बने। 1950 के दशक के आरम्भ में विश्वविद्यालय के प्रमुख केन्द्र के साथ चन्द्रशेखर का नज़दीकी जुड़ाव हुआ। 1953 में चन्द्रशेखर और उनकी पत्नी ने अमरीकी राष्ट्रीयता ग्रहण कर ली।

चन्द्रशेखर का अपने छात्रों से अद्भुत लगाव था जो भारतीय गुरु-शिष्य परम्परा के अनुरूप था।

1946 में वे सप्ताह में एक दिन अपनी प्रयोगशाला से शिकागो तक 250 किलोमीटर की दूरी तय करके केवल दो छात्रों की कक्षा लेने के लिए जाते थे! परन्तु वे जो कर रहे थे उसके नतीजे उन्हें अच्छी



तरह पता थे। 1957 में इन दोनों अमरीकी-चीनी छात्रों, ली और यांग को भौतिक विज्ञान का नोबल पुरस्कार मिला।

चन्द्रशेखर की कार्यपद्धति अनूठी थी। उनका मानना था कि एक ही संकुचित क्षेत्र में बहुत साल तक कार्य करते रहने से दिमाग कुन्द हो जाता है। इसलिए हर आठ-दस साल के बाद वे किसी नए क्षेत्र को चुनते, उसमें अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा उँडेलते, उसमें दक्षता हासिल कर मौलिक योगदान करते और फिर अपने शोध को एक उत्कृष्ट पुस्तक में सँजोते। मार्विन गोल्डबर्गर के अनुसार, “वे पहले उस विषय पर ढेरों शोधपत्र लिखते और अन्त में एक मोटी-सी किताब लिख डालते।” उसके बाद वे किसी नए क्षेत्र में अपना शोध शुरू कर देते। वे जीवन पर्यन्त अनुसन्धान के नए-नए क्षेत्र खोजते रहे और प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने कुछ मौलिक योगदान किया। वे नियमबद्ध तरीके से मेहनत करने के पक्ष में थे।

आइज़ेक न्यूटन की 1687 में लिखी प्रसिद्ध पुस्तक प्रिंसिपिया (Principia), भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में विश्व की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है। पर उसे समझना आसान नहीं है। 1730 में वॉल्टेयर ने उसे दुर्बोध और अस्पष्ट करार दिया था। चन्द्रशेखर ने प्रिंसिपिया के महत्वपूर्ण नतीजों की आधुनिक तरीकों से व्याख्या की। परन्तु उन्होंने माना कि न्यूटन द्वारा सुझाए तरीके अधिक सुन्दर थे।

बहुत से महान वैज्ञानिक ऊँचे ओहदों पर आसीन होकर खुद की सफलता के शिकार बन जाते हैं। दूसरी ओर चन्द्रशेखर हमेशा युवा वैज्ञानिकों की संगति में खुद को पुनर्जीवित करते रहते थे। वे सबसे अधिक खुश उस वक्त होते जब समस्याएँ एक स्वतःस्फूर्त गति पकड़ लेतीं और जब समस्याएँ कठिन हो जातीं और दूसरी समस्याएँ पैदा करने लगतीं। अन्त में उन्हें लगता कि उन समस्याओं को सुलझाना ही होगा, और फिर वे उनके हल खोजने के लिए बाध्य होते।

चन्द्रशेखर ने पहले आकाशगंगाओं के उद्गम – नक्षत्रीय गतिकी (Stellar Dynamics) – पर कार्य किया। 1940 में उन्होंने तारों के वातावरण में

विकिरण प्रसार – विकिरणशील स्थानान्तरण (radiative transfer) – विषय पर शोध किया। 1950 में उन्होंने द्रवगति स्थिरता (hydrodynamic stability) – द्रवों में विक्षेभ का एक विषय, जो एक अत्यन्त जटिल परिघटना है – पर अनुसन्धान किया। 1960 के दशक में बेहतरीन दूरबीनों की मदद से पल्सर (pulsar) तथा क्वासार (quasar) किस्म के सितारों की खोज हुई। इन नई-नई खोजों की सैद्धान्तिक व्याख्या बेहद जरूरी थी। चन्द्रशेखर ने सामान्य सापेक्षता के सिद्धान्त (General Theory of Relativity) के आधार पर कृष्ण-विवर (black holes) का अध्ययन किया और अपनी उत्कृष्ट पुस्तक *द मैथमैटिकल थ्योरी ऑफ ब्लैक-होल्स (The Mathematical Theory of Black Holes)* में उनकी व्याख्या की। यह पुस्तक 1983 में प्रकाशित हुई। वे इस विषय पर अन्त तक काम करते रहे। उनका देहान्त 21 अगस्त 1995 को हुआ।

वैसे चन्द्रशेखर ने अपना अधिकतम समय विदेश में गुजारा परन्तु भारत हमेशा उनके मन में रहता था। भारतीय गणितज्ञ रामानुजन एक आदर्श वैज्ञानिक के रूप में चन्द्रशेखर के शलाका-पुरुष थे। उन्होंने मद्रास में रामानुजन इंस्टिट्यूट ऑफ मैथमैटिक्स स्थापित करने में वित्तीय सहयोग दिया। श्रीनिवास रामानुजन की पत्नी अत्यन्त गरीबी में ज़िन्दगी बसर कर रही थीं। चन्द्रशेखर ने उन्हें शासकीय पेंशन दिलाने में मदद की।

चन्द्रशेखर का काम के प्रति सम्पूर्ण समर्पण जल्द ही रंग लाया और उन्हें अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। 1944 में उन्हें लन्दन रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो चुना गया। 1966 में उन्हें अमरीका का नेशनल साइंस पदक मिला। भारत सरकार ने 1968 में उन्हें पद्म विभूषण से नवाज़ा। 1983 में उन्हें विश्व के उच्चतम पुरस्कार नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

चन्द्रशेखर की पुस्तकें और शोधपत्र विज्ञान के क्षेत्र में क्लासिक बन चुके हैं। उनका शोध अत्यन्त प्रखर और सटीक तो था ही, साथ-साथ वे व्यक्तिगत और बहुत नायाब शैली में लिखते थे।



चन्द्रशेखर की साहित्य और संगीत में गहरी रुचि थी और उन्होंने महान रूसी साहित्यकारों – दोस्तोयव्स्की, तुर्गनेव, तोलस्तॉय और चेखोव – की कृतियाँ पढ़ी थीं। थॉमस हार्डी, हेनरिक इब्सेन, बर्नार्ड शाँ और शेक्सपियर उनके प्रिय लेखक थे। वे अक्सर कला और विज्ञान के बीच अन्तर्सम्बन्धों पर भाषण दिया करते थे जिनका विस्तृत रूप उनकी पुस्तक *ट्रुथ एंड ब्यूटी: एस्थेटिक्स एंड मोटिवेशन्स इन साइंस (Truth and Beauty: Aesthetics and Motivations in Science)* में पढ़ा जा सकता है। सम्भवतः कुछ अन्य विलक्षण वैज्ञानिकों के काम का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा होगा परन्तु चन्द्रशेखर की छवि उनसे बिलकुल अलग है – उनका पूरा जीवन विज्ञान को समर्पित था। नासा (National Aeronautics and Space Administration) ने उनके आदर और सम्मान में 1999 में दुनिया की सबसे बेहतरीन एक्स-रे वेधशाला का नाम ‘चन्द्र’ रखकर उनके नाम और काम को सदा के लिए अमर कर दिया।



विक्रम साराभाई

(1912 - 1971)

बचपन में विक्रम साराभाई को साइकिल के करतब दिखाने का बेहद शौक था। साइकिल को तेज़ी से चलाने के बाद वे अपने दोनों हाथ सीने पर रख लेते और दोनों पैर हैंडल पर। अगर सड़क सीधी होती तो वे अपनी आँखें बन्द करके साइकिल को नाक की सीध में दौड़ने देते। इस दौरान घर के सारे नौकर घबराते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़ते और उनसे साइकिल रोकने की विनती करते। बचपन में खतरनाक करतब दिखाने वाला यह बालक बड़ा होकर अन्तरिक्षीय किरणों पर 80 शोधपत्र लिखने वाला वैज्ञानिक बनेगा, इसकी कल्पना करना कुछ मुश्किल है।

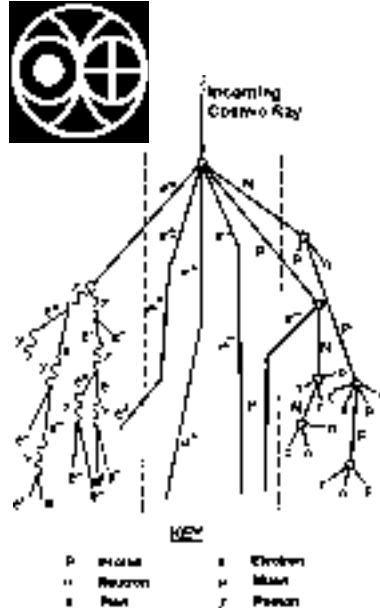


विक्रम का बचपन अनूठी परिस्थितियों में बीता। प्रतिभा के बीज शायद उनके बचपन के संस्कारों में मौजूद थे। विक्रम साराभाई एक धनी व्यापारी परिवार में जन्मे। अहमदाबाद में कपड़े की मशहूर कौलिको मिल उनके परिवार की थी। 1920 के दशक में पानी के जहाज़ से भारत लौटते हुए विक्रम के पिता अम्बालाल और माँ सरला ने शिक्षा पर मारिया

मॉण्टेसरी की क्रान्तिकारी पुस्तक पढ़ी। पुस्तक का उन पर इतना जादुई प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपने बच्चों के लिए मॉण्टेसरी पद्धति पर आधारित एक विद्यालय शुरू किया! 21 एकड़ के परिसर में स्थित परिवार के इस निजी प्रायोगिक स्कूल में उनके आठों बच्चे पढ़े। बच्चों को माता-पिता की देखरेख में कई भारतीय और ब्रिटिश शिक्षकों ने घर पर ही पढ़ाया। जब विक्रम ने ठोका-पीटी में कुछ रुचि दिखाई तो उनके पिता ने उनके लिए एक कार्यशाला का ही प्रबन्ध कर दिया, जिसमें एक निरीक्षक भी था! विद्यालय में बच्चों को अपनी रुचि के अनुसार अनेक चीजें सीखने की छूट थी। साथ में उन्हें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरू और रुक्मिणी देवी अरुंदले जैसे मेहमानों से भी मिलने का मौका मिलता था।

साराभाई परिवार धनी होने के साथ-साथ महात्मा गाँधी के भी बहुत करीब था। उन्हें अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारियों का गहरा बोध था। विक्रम की बुआ अनुसुइया ने शहर में कपड़ा मिल श्रमिकों का पहला मजदूर संघ स्थापित किया। उनकी बहन मृदुला गाँधीजी की विचारधारा से बहुत प्रभावित थीं। मृदुला ने देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और वे कई बार जेल गईं।

स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद विक्रम ने अहमदाबाद के गुजरात कॉलेज में कुछ समय पढ़ाई की, परन्तु बी.एससी. पूरा करने से पहले ही वे केम्ब्रिज विश्वविद्यालय चले गए और उन्होंने सेंट जॉन्स कॉलेज में दाखिला लिया। 1939 में उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान में प्रावीण्य परीक्षा उत्तीर्ण की। उसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ जिसकी वजह से उन्हें भारत वापस लौटना पड़ा। यहाँ वे भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर में सी.वी. रामन के मार्गदर्शन में अन्तरिक्षीय किरणों पर शोधकार्य करने लगे।





अन्तरिक्षीय किरणों पर शोध के दौरान विक्रम का ध्यान अन्तरिक्ष विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की ओर आकर्षित हुआ। यह रुचि काफी समय तक सुप्तावस्था में रही पर मौका मिलते ही उन्होंने भारत के अन्तरिक्ष कार्यक्रम के विकास में एक प्रमुख भूमिका अदा की। बैंगलोर में विक्रम की भेंट जानी-मानी भरतनाट्यम नृत्यांगना मृणालिनी स्वामिनाथन से हुई। बाद में इन दोनों ने विवाह कर लिया। साराभाई दम्पति की दो सन्तानें हैं – बेटा कार्तिकेय और बेटी मल्लिका।

1945 में विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद साराभाई केम्ब्रिज वापस लौट गए। यहाँ उन्होंने प्रोफेसर ई.एस. शाएर के मार्गदर्शन में अपनी पीएच.डी. पूरी की। विषय था – *कॉस्मिक रे इन्वेस्टिगेशंस इन ट्रॉपिकल लैटिट्यूड्स (Cosmic Ray Investigations in Tropical Latitudes)*। उनके शोधकार्य में आण्विक विखण्डन का भी उल्लेख था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के आदर्शवादी माहौल में विक्रम साराभाई ने कई संस्थाएँ स्थापित कीं – भौतिक अनुसन्धान प्रयोगशाला (Physical Research

Laboratory); दर्पना नृत्य अकादमी, जिसे उन्होंने अपनी पत्नी मृणालिनी के साथ स्थापित किया; तथा अहमदाबाद टेक्सटाइल इण्डस्ट्रीज़ रिसर्च एसोसिएशन (Ahmedabad Textile Industry's Research Association), जो कि कपड़ों पर शोध करने वाली भारत की पहली सहकारी संस्था थी। बाज़ार पर शोध करने वाली भारत की पहली संस्था, ऑपरेशंस रिसर्च ग्रुप (Operations Research Group) तथा भारतीय प्रबन्ध संस्थान (The Indian Institute of Management) भी उन्होंने स्थापित किए। राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान (National Institute of Design) को स्थापित करने में भी उन्होंने मदद की। ये भिन्न-भिन्न गतिविधियाँ साराभाई की बहुविध रुचियों और बहुमुखी प्रतिभा की द्योतक हैं। सभी परियोजनाएँ वे बहुत सूझ-बूझ से बनाते और उनमें वैज्ञानिक पद्धति, आर्थिक नियोजन और राष्ट्रीय हित साफ झलकते थे।

रटाने वाली शिक्षा से उन्हें बेहद चिढ़ थी, इसलिए उन्होंने ग्रुप फॉर इम्प्रूवमेंट ऑफ साइंस एज्युकेशन (Group for Improvement of Science Education) का गठन किया। बाद में यह समूह नेहरू फाउंडेशन फॉर डेवलपमेंट (Nehru Foundation for Development) का अंग बना। उन्होंने अहमदाबाद में देश का पहला सामुदायिक विज्ञान केन्द्र स्थापित किया जिसका उद्घाटन 1968 में सी.वी. रामन ने अपने लोकप्रिय भाषण “आकाश नीला क्यों है?” से किया। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि साराभाई इतने भिन्न क्षेत्रों में श्रेष्ठ योगदान करने के लिए समय और ऊर्जा जुटा पाए।

इस ऊर्जा और उत्साह के चलते उनका देर तक छिपे रहना मुश्किल था। 1962 में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने देश के अन्तरिक्ष शोध कार्यक्रम के संगठन के लिए विक्रम साराभाई को आमंत्रित किया। उस समय विश्व के शक्तिशाली देश अन्तरिक्ष प्रौद्योगिकी को अपनी सैन्य-शक्ति और सत्ता बढ़ाने के लिए इस्तेमाल कर रहे थे। परन्तु साराभाई की दृष्टि उनसे बिलकुल भिन्न थी। उन्होंने भारत के लिए एक अनूठे अन्तरिक्ष कार्यक्रम की कल्पना की जहाँ जन-शिक्षा, संचार माध्यमों के विकास, मौसम भविष्यवाणी एवं खनिजों की खोज के लिए उपग्रहों का उपयोग किया जाता।

साराभाई उच्च प्रौद्योगिकी को देश के करोड़ों लोगों के हित में उपयोग करना चाहते थे। साथ ही वे संस्थाओं में एक परिष्कृत कार्यपद्धति का पोषण करना चाहते थे। वे चाहते थे कि पश्चिम के देशों की तरह भारत को विकास के लम्बे और कठिन दौर से नहीं गुज़रना पड़े। उनका विश्वास था कि नई तकनीक द्वारा भारत 'छलाँग' लगाकर पिछड़ेपन की खाई पाट पाएगा।

साराभाई ने *सैटेलाइट इंस्ट्रक्शनल टेलिविज़न एक्सपेरिमेंट* (Satellite Instructional Television Experiment) की नींव रखी। इसके माध्यम से दूर-दराज़ स्थित गाँवों के स्कूलों में उपग्रहों द्वारा शैक्षणिक कार्यक्रम पहुँचाए गए। उन्होंने केरल के थुम्बा नामक स्थान पर चुम्बकीय भूमध्य रेखा के पास एक रॉकेट प्रक्षेपण स्थल की स्थापना की। बाद में विस्तार के बाद यह स्पेस साइंस एंड टेक्नॉलॉजी सेंटर (Space Science and Technology Centre) बना। (आज यह केन्द्र विक्रम साराभाई स्पेस रिसर्च सेंटर के नाम से जाना जाता है।) उन्होंने आन्ध्र प्रदेश के श्रीहरिकोटा में एक और रॉकेट प्रक्षेपण स्थल स्थापित किया और अहमदाबाद में सैटेलाइट कम्यूनिकेशन सेंटर (Satellite Communication Centre) की स्थापना की। होमी भाभा की आकस्मिक मृत्यु के बाद साराभाई परमाणु ऊर्जा आयोग (Atomic Energy Commission) के अध्यक्ष बने। गाँधीजी से प्रभावित होने के कारण साराभाई का आण्विक हथियारों के प्रति रवैया बहुत सोचा-विचारा हुआ था। इस कारण आण्विक कुटुम्ब के कट्टरपन्थी लोग साराभाई को पसन्द नहीं करते थे और उनकी निन्दा करते थे। साराभाई ने पुगवॉश सम्मेलनों (Pugwash Conferences) में भाग लिया और आण्विक हथियारों के दुरुपयोग और परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग की चर्चा की।

अगर भारत कम-लागत के उपग्रह बनाने और चन्द्रमा केन्द्रित अनुसन्धान के लिए चन्द्रयान नामक उपग्रह भेजने में सफल हुआ है तो इसका बहुत-सा श्रेय विक्रम साराभाई को जाता है। उन्होंने इस कार्यक्रम के लिए पुरजोश समूह चुना और उसे बड़ी मेहनत से पोषित किया। इसमें चोटी के वैज्ञानिक ए.पी.जे. अब्दुल कलाम, ई.वी. चिटनिस, वसन्त गोवारिकर, प्रमोद काले, यू.आर. राव, कस्तूरीरंगन और अन्य शामिल थे।

अपने अपेक्षाकृत छोटे जीवनकाल में ही साराभाई ने देश के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किए। इसके लिए उन्हें कई पुरस्कारों से अलंकृत किया गया। 1962 में उन्हें भौतिक विज्ञान के लिए शान्तिस्वरूप भटनागर पुरस्कार मिला। 1966 में उन्हें पद्म भूषण और 1972 में पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया।

विक्रम साराभाई काम की लगन में दिन-रात एक कर देते थे। एक बार उन्होंने ए.पी.जे. अब्दुल कलाम को रात साढ़े तीन बजे मिलने का समय दिया! शायद उन्हें अपनी मृत्यु का कुछ पूर्वानुमान था, इसलिए उन्होंने बेहद श्रम और लगन से जल्द ही मंज़िल तक पहुँचने का प्रयास किया। कठिन जीवन-शैली के कारण 30 दिसम्बर 1971 को दिल का दौरा पड़ने से विक्रम साराभाई का देहान्त हो गया। एक खानदानी और समृद्ध परिवार में पैदा हुए साराभाई अगर चाहते तो ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर कर सकते थे, परन्तु वे देश की सेवा करते हुए अल्पायु में ही चल बसे। भारत को अन्तरिक्ष विज्ञान के अग्रिम पंक्ति के राष्ट्रों में लाकर खड़ा करने के लिए देश सदैव उनका कृतज्ञ रहेगा।

1974 में चन्द्रमा पर एक विवर (crater) को विक्रम साराभाई का नाम दिया गया। यह नाम आस्ट्रेलिया में सिडनी स्थित इंटरनेशनल एस्ट्रॉनॉमिकल यूनियन (International Astronomical Union) ने दिया। यूनियन ने चाँद पर 'सी ऑफ सिरिनिटी' (शान्ति सागर) नामक क्षेत्र में स्थित विवर 'बेसल' का नाम बदलकर 'साराभाई विवर' रखा।



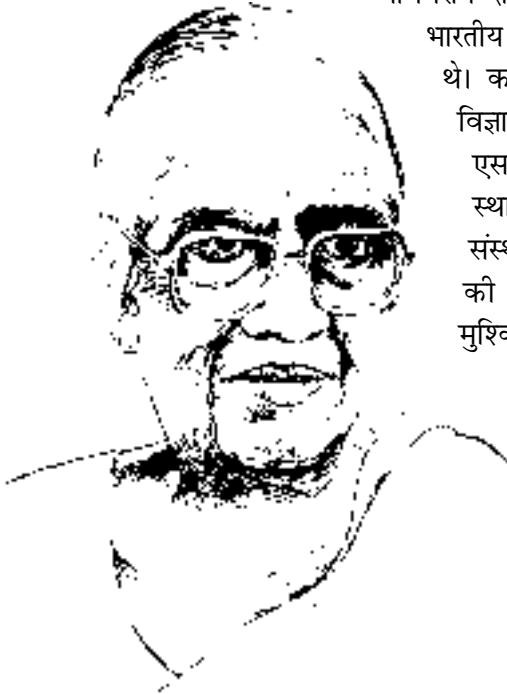
कमला सोहोनी

(1912 - 1998)

कमला सोहोनी विज्ञान के विषय में डॉक्टरेट की डिग्री हासिल करने वाली पहली भारतीय महिला थीं। उन्होंने ग्रामीण गरीबों के नियमित आहार के खाद्य पदार्थों के तीन प्रमुख समूहों का विस्तृत जैव-रासायनिक विश्लेषण किया और उनके पौष्टिक गुण प्रमाणित किए।

कमला का जन्म 1912 में हुआ। उनके पिता नारायणराव भागवत और चाचा माधवराव दोनों प्रसिद्ध रसायन शास्त्री थे। वे बैंगलोर के भारतीय विज्ञान संस्थान के पहले स्नातकों में से थे। कमला ने बम्बई विश्वविद्यालय से भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान विषयों के साथ बी. एससी. पास की। विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान अर्जित करने के बाद उन्हें बैंगलोर के संस्थान में आगे शोध के लिए दाखिला मिलने की पूरी उम्मीद थी। पर असल में यह बड़ा मुश्किल काम था।

विख्यात वैज्ञानिक और नोबल पुरस्कार विजेता सी.वी. रामन ने भारतीय विज्ञान संस्थान, रामन शोध संस्थान और देश में वैज्ञानिक शोध पत्रिकाओं की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। पर



रामन महिला विद्यार्थियों को लेने के विरुद्ध थे। इसलिए 1933 में, बावजूद इसके कि कमला अपने विश्वविद्यालय में प्रथम आई थीं, रामन ने उनके दाखिले को रद्द कर दिया! पर कमला आसानी से दबने वाली न थीं। कमला ने रामन का सामना किया और फिर वे मान गए।

रामन के कार्यालय में कमला के सत्याग्रह के बाद उन्हें परिवीक्षा के लिए दाखिला तो मिला, मगर एक शर्त पर – कि उनकी उपस्थिति से पुरुष शोधकर्ताओं के काम को कोई विघ्न न पहुँचे! कमला इससे बहुत दुखी हुई। परन्तु उनके पास इस शर्त को स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा भी नहीं था।

कमला ने बाद में कहा, “वैसे रामन एक महान वैज्ञानिक थे परन्तु वे बहुत संकीर्ण विचारों के थे। एक महिला होने के नाते उन्होंने मेरे साथ जो सलूक किया उसे मैं कभी नहीं भूल सकती। इसके बाद भी रामन ने मुझे एक नियमित छात्र की तरह दाखिला नहीं दिया। मेरे लिए यह गहरे अपमान की बात थी। उस समय महिलाओं के प्रति लोगों का रवैया इतना खराब था। अगर एक नोबल पुरस्कार विजेता भी इस प्रकार का बर्ताव करे तो फिर अन्य लोगों से और क्या उम्मीद की जा सकती है?”

एक साल बाद रामन कमला की निष्ठा से सन्तुष्ट हुए और उन्होंने कमला को नियमित छात्र के रूप में जैव-रसायन (biochemistry) विभाग में शोध करने की अनुमति दे दी। इसके बाद से रामन ने संस्था में छात्राओं को दाखिला देना शुरू कर दिया। यह कमला के लिए एक बड़ी जीत थी। उनके संघर्षों की वजह से अन्य महिलाओं के लिए वैज्ञानिक शोध का रास्ता खुल गया।



भारतीय विज्ञान संस्थान में कमला ने अपने शिक्षक श्रीनिवासैया के मार्गदर्शन में बहुत परिश्रम किया। अपने उत्साही शिक्षक की प्रेरणा वे कभी नहीं भूलीं। उन्होंने कमला को जैव-रसायन की

श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ने और उनके लेखकों से पत्र-व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित किया। कमला ने दूध और दलहनों में प्रोटीन पर शोध किया, जिससे देश के कुपोषितों को बहुत लाभ हुआ। 1936 में वे दलहनों से मिलने वाले प्रोटीनों पर शोधकार्य करने वाली पहली स्नातक थीं। इस शोध कार्य के लिए बम्बई विश्वविद्यालय ने उन्हें एम.एससी. की उपाधि प्रदान की। उसके बाद वे केम्ब्रिज विश्वविद्यालय गईं, जहाँ पहले उन्होंने डॉ. डेरिक रिक्टर की प्रयोगशाला में काम किया। रिक्टर ने कमला को काम करने के लिए एक लम्बी मेज़ दी। रात को प्रयोगशाला में रिक्टर उसी मेज़ पर सो जाते थे।

डॉ. रिक्टर के तबादले के बाद कमला वनस्पति ऊतकों (plant tissues) के विषय पर डॉ. रॉबिन हिल के मार्गदर्शन में काम करती रहीं। आलू पर शोध करते समय उन्होंने पाया कि प्रत्येक पौधे के ऊतक की कोशिका में 'साइटोक्रोम सी' (cytochrome C) नाम का एक पाचक रस (enzyme) होता है जो पौधे की कोशिकाओं के ऑक्सीकरण (oxidation) के लिए जिम्मेदार होता है। यह एक मौलिक खोज थी जो समूचे वनस्पति जगत् पर लागू होती थी।

दिग्गज वैज्ञानिकों के साथ काम करने का उनका सपना तब पूरा हुआ जब उन्हें दो वज़ीफे मिले। पहला था केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सर विलियम डॉन इंस्टिट्यूट ऑफ बायोकेमिस्ट्री में नोबल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर फ्रेडरिक हॉपकिंस के साथ काम करने का मौका। यहाँ कमला ने जैविक ऑक्सीकरण और अपचयन (reduction) पर काम किया। दूसरा वज़ीफा एक अमरीकी छात्रवृत्ति थी जिसके अन्तर्गत कमला यूरोप की यात्रा कर वहाँ के जाने-माने वैज्ञानिकों से मिलीं।

केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पीएच.डी. के लिए कमला ने अपने संक्षिप्त शोधग्रन्थ में वनस्पति ऊतकों के साँस लेने की प्रक्रिया में 'साइटोक्रोम सी' के प्रभाव की व्याख्या की। उनका पूरा शोधग्रन्थ टाइप किए गए 40 पृष्ठों का था। उसके लिए शोध और लेखन को मिलाकर उन्हें केवल 14 माह का समय लगा।

1939 में वे भारत लौटीं और लेडी हार्डिंग कॉलेज, नई दिल्ली में नवनिर्मित



नीरा को ताड़ के पेड़ों से निकाला जाता है।

जैव-रसायन विभाग की प्रमुख बनीं। बाद में वे कुन्नूर स्थित न्यूट्रिशन रिसर्च लेबोरेटरी (Nutrition Research Laboratory) की सहायक निदेशक बनीं। यहाँ उन्होंने विटामिनों के प्रभाव पर शोध किया। 1947 में उनका विवाह एम.वी. सोहोनी से हुआ जिसके बाद वे बम्बई चली गईं।

बम्बई में कमला ने रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस (Royal Institute of Science) के नवनिर्मित जैव-रसायन विभाग में काम करना शुरू किया। उन्होंने अपने छात्रों को प्रासंगिक विषयों पर शोध करने के लिए प्रेरित किया। उनके कई छात्रों ने बाद में बहुत नाम कमाया और उच्च दर्जे का वैज्ञानिक शोध किया। कमला ने अपने छात्रों के साथ मिलकर ग्रामीण गरीब लोगों द्वारा खाए जाने वाले खाद्यान्नों के तीन समूहों का सविस्तार विश्लेषण किया और उनमें पाए जाने वाले पोषक तत्वों की सूची तैयार की। इस शोधकार्य में दलहनों के प्रोटीन, ट्रिपसिन (trypsin) नामक पाचन ऊतकों के निरोधन और भारतीय दालों की पाचन क्षमता कम करने वाले कुछ अन्य यौगिक भी शामिल थे। कमला ने नीरा, ताड़-गुड़, ताड़ का शीरा, और धान-आटा (धान को पॉलिश करने के दौरान बना आटा) पर भी शोध किया। ये चीजें समाज के सबसे गरीब लोग खाते हैं, इसलिए उनके शोध से सबसे कुपोषित लोगों को लाभ पहुँचा। कमला ने नीरा पर शोधकार्य भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के सुझाव पर प्रारम्भ किया था।

नीरा ताड़ के पेड़ से मिलने वाला एक पेय है। नीरा पीने में मीठा, स्वादिष्ट और बहुत पौष्टिक होता है।

कुपोषित गर्भवति आदिवासी महिलाओं और किशोरों को नियमित रूप से नीरा देने पर उनके समूचे स्वास्थ्य में उल्लेखनीय सुधार हुआ। नीरा के पौष्टिक गुणों पर शोधकार्य के लिए कमला सोहोनी को राष्ट्रपति पुरस्कार मिला।



कमला कंज्यूमर गाइडेंस सोसाइटी ऑफ इण्डिया (Consumer Guidance Society of India) की सक्रिय सदस्य थीं और वहाँ उन्होंने बहुत लगन से काम किया। 1982-83 में वे इस सोसाइटी की अध्यक्ष बनीं। उन्होंने इस संस्था के मुखपत्र *कीमत* के लिए अनेक लेख लिखे।

हालाँकि कमला अपने शोधकार्य से खुश थीं परन्तु वे अपने संस्थान की राजनीति और लोगों के राग-द्वेष से खिन्न भी थीं जिसके चलते लम्बे अरसे तक उन्हें संस्थान के निदेशक पद से वंचित रखा गया। अपनी सफलता का श्रेय उन्होंने अपने पिता, अपने शिक्षक श्रीनिवासैया और पति को दिया।

अन्त में जब वे रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस की निदेशक बनीं तो केम्ब्रिज में उनके पहले मार्गदर्शक डॉ. डेरिक रिक्टर ने टिप्पणी की, “इतनी बड़ी वैज्ञानिक संस्था की पहली महिला निदेशक बनकर कमला ने इतिहास रचा है।”

कमला सोहोनी का जीवन हमें भारत की अग्रणी महिला वैज्ञानिकों के संघर्षों की याद दिलाता है। विज्ञान के पुरुष-प्रधान क्षेत्र में किसी महिला का प्रवेश सुनिश्चित करने के लिए प्रखर बुद्धिमत्ता और पारिवारिक समर्थन ही पर्याप्त नहीं था। भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद की प्रथम महिला महानिदेशक डॉ. सत्यवती को कमला सोहोनी की संघर्षमय जीवनगाथा और उनके काम के बारे में पता चला तो उन्होंने कुछ करने की ठानी। उन्होंने 84 वर्षीय कमला को नई दिल्ली आमंत्रित किया और उनके सम्मान में एक बड़ा समारोह आयोजित किया। 1998 में, 86 वर्ष की आयु में, कमला सोहोनी का देहान्त हुआ।

